राष्ट्र-चिन्तन

पं. दीनदयाल उपाध्याय

लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

निवेदन

पंडित दीनदयाल जी उपाध्याय द्वारा समय-समय पर लिखे गये भाषणों का एक संग्रह 'राष्ट्र जीवन की समस्याएँ' नाम से प्रकाशित हुआ था। राष्ट्र जीवन के विविध क्षेत्रों में गंभीर चिन्तन और सरल अभिव्यक्ति की दृष्टि से पं. दीनदयाल जी के विचारों की यह पुस्तक समादृत हुई। उस पुस्तक के उन सभी लेखों को पुनः प्रकाशित करने का आग्रह बहुत समय से जिज्ञासु पाठकों द्वारा किया जा रहा था।

प्रस्तुत पुस्तक 'राष्ट्र-चिन्तन' में लेखों के अतिरिक्त पं. दीनदयाल जी द्वारा दिये गये कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण भाषणों को भी संकलित कर लिया गया है।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अल्पकाल में ही समाप्त हो गया था। अब द्वितीय संस्करण भी समाप्त हो रहा है। पाठकों के अत्यधिक आग्रह से हम यह तीसरी आवृत्ति नयी सज्जा तथा नये आकार में प्रस्तुत कर रहे हैं। विश्वास है कि इसे भी पूर्व की भाँति आदर प्राप्त होगा।

– प्रकाशक

अनुक्रम

१.	पण्डित दीनदयाल उपाध्याय	१
२.	राष्ट्र जीवन की समस्याएँ	६
३.	भारतीय राजनीति की एक मौलिक भूल	१३
४.	संविधान का क्या करें ?	१७
५.	राष्ट्रभाषा की समस्या	२१
६.	अखण्ड भारत : साध्य और साधन	२६
७.	राष्ट्रीयता का पुण्य प्रवाह	३०
८.	स्वतंत्रता की साधना और सिद्धि	४६
९.	लोकमत का नियामक कौन हो ?	५४
१०.	समाजवाद, लोकतंत्र और हिन्दुत्ववाद	५८
११.	लोकतंत्र का भारतीयकरण	६७
१२.	अर्थनीति का भारतीयकरण	७२
१३.	विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था	७६
१४.	शिक्षा	८३
१५.	सही शब्द : सही अर्थ	८७
१६.	चिति (१)	९९
१७.	चिति (२)	१०५
१८.	राष्ट्रात्मा व विश्वात्मा	११०
१९.	धर्मराज्य क्या और क्यों ?	११६
२०.	धर्म धारण से है	१२१

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

११ फरवरी १९६८ को भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष पं. दीनदयाल जी का मृत शरीर मुगलसराय स्टेशन के यार्ड में पड़ा पाया गया। इस षड्यन्त्रकारी घटना का रहस्य अभी तक अज्ञात है। भविष्य में इसका रहस्य प्रकट होगा। रहस्य जो भी हो, भारतीय प्रजातंत्र के राजनीतिक क्षितिज पर विचार, कार्य और प्रगति की महान् आशाएँ लेकर जो अति दिव्य जीवन उभर कर सामने आ रहा था और अति प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन के आधार पर युगानुरूप नूतन व्यवस्थाएँ, मौलिक चिन्तन और दार्शनिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण व्यावहारिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहा था वह सहसा ओझल हो गया। देश के गौरवशाली अतीत से भव्य भविष्य को जोड़ने वाले वर्तमान का महान् शिल्पी चिरनिद्रा को प्राप्त हो गया। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में जनसाधारण के सुख-दुःख में समरस होते हुए नेतृत्व का सूत्र धारण करने वाला महान् नेता दिवंगत हो गया। समस्याओं से भरे देश में सब प्रकार के समाधान निकाल सकने का विश्वास दिलाने वाला प्रकाश पुंज बुझ गया। सरल व्यवहार, सादा जीवन, उच्च विचार, प्रदीप्त अन्तःकरण और कर्मठता की मूर्त्ति सहसा विगलित हो गयी। इसीलिए जनसंघ के वर्तमान अध्यक्ष पं. अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा कि, "सूर्य ढल गया अब हमें तारों के प्रकाश में मार्ग खोजना होगा।" निस्सन्देह पं. दीनदयाल जी इतने नम्र और सरल थे कि उनकी महानता पहिचान पाना कठिन था और वे इतने महान् थे कि उनके आसं-पास की हर वस्तु ध्येय को समर्पित थी।

पं. दीनदयाल जी उपाध्याय का जन्म २५ सितम्बर १९१६ को हुआ था। उनके नाना पं. चुन्नीलाल शुक्ल जयपुर-अजमेर रेलवे लाइन पर स्थित ग्राम धनकिया में स्टेशन मास्टर थे। पं. दीनदयाल जी का जन्म नाना के घर इसी ग्राम में हुआ। उनके पिता का नाम श्री भगवती प्रसाद उपाध्याय था और वे उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले में ग्राम फर्रह के समीप जलेसर रोड स्टेशन पर रेलवे में स्टेशन

मास्टर थे। आपके पितामह पं. हरीराम जी शास्त्री ज्योतिष शास्त्र में अपने समय के अति प्रसिद्ध विद्वान् माने जाते थे। बताया जाता है कि पं. हरीराम जी शास्त्री की मृत्यु पर आगरा और मथुरा में उनके सम्मानार्थ शोक-हड़ताल भी हुई थी।

बाल्यकाल में जब उनकी आयु लगभग ७ वर्ष की ही थी कि उनके माता-पिता का देहान्त हो गया और उनका पालन-पोषण उनके मामा श्री राधारमण जी शुक्ल के घर में हुआ। विपत्तियों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने का क्रम इस प्रकार बाल्यकाल से ही उनके लिए प्रारम्भ हो गया।

बाल्यकाल में माता-पिता की स्नेह-छाया से वंचित होने का दुःख सम्पूर्ण जीवन को जर्जर कर देने के लिए पर्याप्त होता है। दुर्भाग्य की इस चपेट में बिरले ही उबर पाते हैं। कोमल आयु में स्वावलम्बन और कष्ट सहने की परीक्षा निस्संदेह कठोरता ही गिनी जावेगी। नन्हें बच्चे जब प्यार-दुलार से थपकियाँ पा रहे हों तब कोई एकाकी बालक सिसकियों को पीकर मुट्ठी में दुर्भाग्य को दबोचने का यत्न करे तो यह उसकी अपने प्रति कठोरता ही मानी जावेगी। सचमुच अपने प्रति कठोरता बरतने और कर्म में ध्यान एकाग्र करने का मंत्र पं. दीनदयाल जी ने बाल्यकाल में ही ग्रहण किया। विद्यार्जन की सीढ़ियाँ सफलतापूर्वक चढ़ते गये और उन्होंने अजमेर बोर्ड की मैट्रिक की परीक्षा सीकर के कल्याण हाईस्कूल से जब उत्तीर्ण की तो उन्हें स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण बोर्ड में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए थे। एकाग्रता के साथ मन, बुद्धि को नियोजित कार्य में लगाने से भला कौन-सी बाधा है जो जीती न जा सके और कौन सी परीक्षा है जिसमें सफल न हुआ जा सके। यही क्रम चल पड़ा। दो वर्ष पश्चात पिलानी (राजस्थान) से जब उन्होंने इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण की तो वे प्रथम श्रेणी में ही थे। कानपुर के सनातन धर्म कॉलेज से बी.ए. की परीक्षा भी उन्होंने प्रथम श्रेणी में ही उत्तीर्ण की।

यही वह समय है जब कानपुर में सन् १९३७ में उनका सम्पर्क राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से हो गया। उत्तर प्रदेश में संघकार्य की नींव रखने वाले माननीय श्री भाऊराव जी देवरस से उनका परिचय उनके लिए राष्ट्र समर्पित जीवन जीने का व्रत अंगीकार करने का महामंगल क्षण बन गया। मेधा को लक्ष्य मिला और उनकी शक्तियाँ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य में अधिकाधिक नियोजित होने लगीं।

कानपुर के सनातन धर्म कालेज से बी.ए. उत्तीर्ण करने के बाद यद्यपि वे आगरा से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करने के लिए सेण्ट जान कालेज में प्रविष्ट

हुए, प्रथम वर्ष उन्होंने उत्तीर्ण भी किया किन्तु वे एम.ए. के द्वितीय वर्ष की परीक्षा न दे सके। इस समय वे आगरा में अपनी आजी और बहिन (सगी नहीं) के साथ रहते थे। बहिन का स्वास्थ्य खराब हो गया और उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए उन्हें उसे पहाड़ पर निसर्गोपचार हेतु ले जाना पड़ा। इसी कारण उन्होंने एम.ए. के द्वितीय वर्ष का अध्ययन स्थगित कर दिया।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक के नाते वे सन् १९४२ में लखीमपुर जिले में नियुक्त हुए। शिक्षा कार्य में योगदान देने के लिए यदा-कदा वे वहाँ के एक हाईस्कूल में निःशुल्क अध्यापन का कार्य भी किया करते थे। उनकी अद्वितीय प्रतिभा, उच्च चरित्र और व्यवहार कुशलता से प्रभावित होकर स्कूल के प्रबन्धकों ने उन्हें मुख्याध्यापक का स्थान देने की इच्छा प्रकट की किन्तु श्री दीनदयाल जी ने उसे अमान्य कर दिया। तीन वर्ष के कार्यकाल में ही वे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह प्रान्त प्रचारक बन गये। सन् १९५१ में जनसंघ के निर्माण तक वे इसी क्षेत्र में इसी दायित्व से कार्य करते रहे।

इस बीच पं. दीनदयाल जी ने न केवल संघ शाखाओं के विस्तार का संगठन कार्य किया वरन् संघ पर प्रतिबन्ध लगने के कालखण्ड में समाचारपत्र तथा पुस्तक प्रकाशन का साहित्यिक कार्य भी सफलतापूर्वक किया। सम्राट् चन्द्रगुप्त, जगद्गुरु शंकराचार्य नामक दो पुस्तकें आपने लिखीं। इसके अतिरिक्त 'राष्ट्रधर्म' (मासिक) और 'पाञ्चजन्य' (साप्ताहिक) का भी सम्पादन किया। लखनऊ में राष्ट्रधर्म प्रकाशन लिमिटेड के संस्थापक भी आप बने।

भारत की राजनीति में कांग्रेस की राष्ट्र-विघातकी और अदूरदर्शी नीतियों के परिणामस्वरूप पाकिस्तान का निर्माण होने के बाद कांग्रेस में सत्ता राजनीति की दौड़ प्रारम्भ हो गयी। देश की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, औद्योगिक सभी क्षेत्रों में गिरावट के आसार प्रकट होने लगे। ऐसे क्षणों में राजनीतिक क्षेत्र में नये नेतृत्व की आवश्यकता गूँज उठी। इसी महती आवश्यकता की पूर्ति में जब १९५१ में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ के निर्माण का विचार किया जा रहा था तब पं. दीनदयाल जी उपाध्याय ने २१ सितम्बर १९५१ को लखनऊ में प्रादेशिक सम्मेलन बुलाकर प्रदेश जनसंघ की स्थापना की। ठीक एक मास बाद २१ अक्टूबर १९५१ को दिल्ली में डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में अखिल भारतीय जनसंघ की भी स्थापना हुई। १९५२ में जनसंघ का

प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन कानपुर में आयोजित किया गया। पं. दीनदयाल जी की संगठन कुशलता से जनसंघ का यह पहला अधिवेशन ही अत्यन्त सफल हुआ। इसी अधिवेशन में पं. दीनदयाल जी उपाध्याय को अखिल भारतीय महामंत्री का पद सौंपा गया जिसे उन्होंने जनसंघ के कालीकट अधिवेशन सन् १९६७ तक निभाया। कानपुर से कालीकट तक जनसंघ के शीर्ष स्थान पर डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, आचार्य रघुबीर जैसे अखिल भारतीय विद्वान् विराजमान् हुए किन्तु दुर्भाग्य से अल्पकाल में वे छिन गये। पं. दीनदयाल जी उपाध्याय ही ऐसे व्यक्ति थे जो इस रिक्तता के समय आशा और विश्वास के ज्योति-स्तंभ बनकर मार्गदर्शन का दायित्व निभाते रहे। कश्मीर का आन्दोलन हो या किसान मजदूरों का मोर्चा, पंचवर्षीय योजना हो या सामाजिक गुत्थी, सभी स्थानों एवं कार्यों में पं. दीनदयाल जी का मार्गदर्शन देश को प्राप्त होता रहा। पं. दीनदयाल जी ने देश के सभी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों के लिए गम्भीर सारयुक्त विचार-मंथन किया। इस सब में भी उनकी विशेषता यह थी कि वे तात्कालिक और छोटे से विषय को भी एक स्थायी सैद्धान्तिक अधिष्ठान देकर लिखा-बोला करते थे।

विधाता ने उन्हें जन्म से ही आपत्तियों में ढकेलने के जाल रच रखे थे किन्तु पं. दीनदयाल जी ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और कष्ट सहिष्णुता के बल पर सदैव प्रगति करने का ही संकल्प ले रखा था। वे अपने दैवीय गुणों के बल पर सदैव परिश्रम, त्याग, लगन का परिचय देते हुए ऊपर उठते गये। यह क्रम बाल्यकाल से प्रारम्भ हुआ और उनकी मृत्यु तक सतत चलता रहा। विधाता ने उन्हें बाल्यकाल में अनाथ बना दिया, विद्यार्थी जीवन में उनके स्नेह के एकमात्र आश्रय स्थान उनकी बहिन को मृत्यु-मुख में भेजकर उन्हें विक्षिप्त बना देने की ठानी और जबकि वे यश, गरिमा के क्षितिज पर अध्यक्ष रूप में प्रतिष्ठित हुए थे, उन पर कालपाश ने चिरनिद्रा डालकर उन्हें लावारिस बना दिया। विधाता की क्रूरता ने उन्हें गुमनाम लाश तक बना दिया ताकि कोई उनका पता भी न पा सके। किन्तु हर बार वे अपने कर्तृत्व के बल पर कुछ और ही बनते चले गये। दीनदयालु तो वे जन्म से ही थे, विधाता ने उन्हें जब अनाथ बना दिया तो वे कर्मयोगी बन गये, उन्हें विक्षिप्त किया, तो वे समाजसेवी कार्यकर्ता के रूप में सर्वत्यागी संन्यासी बन गये और अन्त में उन्हें लाश की गठरी बनाकर भुलाना चाहा तो वहाँ भी उनकी जीवन-साधना उनकी यशःकाया बनकर कौंध उठी। प्रातः ९ बजे तक उनकी लाश लावारिस थी; और

१० बजे घटना का पता लगते ही सम्पूर्ण देश के आँसुओं और पुष्पांजलियों से पूजी जाने लगी। विधाता ने उन्हें एक मुट्ठी राख बनाना चाहा और वे चिता भस्म से उठकर जन-जन की स्मृतियों में सदैव-सदैव के लिए समा गये और अमरत्व का वरण कर लिया।

सचमुच वे जन्मतः नहीं कर्मतः महान् थे। अपने कर्मों के आधार पर ऊपर उठने का संदेश जन्म से लेकर मृत्यु तक उनके जीवन की प्रत्येक घटना में सतत गुंजित हुआ है।

उन्होंने संघर्षपूर्ण जीवन में सदैव कर्म की श्रेष्ठता को प्रस्थपित किया। कालीकट के अधिवेशन में उन्होंने सम्पूर्ण राष्ट्र को 'चरैवेति ! चरैवेति !!' का जो संदेश दिया उसे उन्होंने स्वयं अपने जीवन में साकार कर लिया था।

राष्ट्र जीवन की समस्याएँ

भारत में एक ही संस्कृति रह सकती है; एक से अधिक संस्कृतियों का नारा देश के टुकड़े-टुकड़े कर हमारे जीवन का विनाश कर देगा। अतः आज लीग का द्वि-संस्कृतिवाद, कांग्रेस का प्रच्छन्न द्वि-संस्कृतिवाद तथा साम्यवादियों का बहु-संस्कृतिवाद नहीं चल सकता। आज तक एक-संस्कृतिवाद को सम्प्रदायवाद कहकर ठुकराया गया किन्तु अब कांग्रेस के विद्वान् भी अपनी गलती समझकर एक-संस्कृतिवाद को अपना रहे हैं। इसी भावना और विचार में भारत की एकता तथा अखण्डता बनी रह सकती है, तथा तभी हम अपनी सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझा सकते हैं।

मनुष्य अनेक जन्मजात प्रवृत्तियों के समान, देशभक्ति की भावना भी स्वभाव से प्राप्त करता है। केवल परिस्थितियों एवं वातावरण के दबाव से किसी व्यक्ति में यह प्रवृत्ति सुप्त होकर विलीनप्राय हो जाती है। इस प्रकार विकसित देश-प्रेम के व्यक्ति, अपने कार्यकलापों की प्रेरणा अस्पष्ट एवं क्षीण भावना से नहीं वरन् अपने स्वप्नों के अनुसार अपने देश का निर्माण करने की प्रबल ध्येयवादिता से पाते हैं। भारत में भी प्रत्येक देशभक्त के सम्मुख इस प्रकार का ध्येय-पथ है तथा वह समझता है कि अपने पथ पर चलकर ही वह देश को समुन्नत बना सकेगा। यह ध्येय-पथ यदि एक ही होता तथा सब देशभक्तों के लिए आदर्श भारत का स्वरूप भी एक ही होता तब तो किसी भी प्रकार के विवाद या संघर्ष का प्रश्न नहीं था, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि आज भिन्न-भिन्न मार्गों से लोग देश को आगे ले जाना चाहते हैं तथा प्रत्येक का विश्वास है कि उसी का मार्ग सही मार्ग है। अतः हमको इन मार्गों का विश्लेषण करना होगा और तब ही हम प्रत्येक की वास्तविकता को भी समझ सकेंगे।

चार प्रमुख मार्ग

इन मार्गों को देखते हुए हमें चार प्रधान वर्ग दिखाई देते हैं– अर्थवादी, राजनीतिवादी, मतवादी तथा संस्कृतिवादी।

अर्थवादी

प्रथम वर्ग अर्थवादी, सम्पत्ति को ही सर्वस्व समझता है तथा उसके स्वामित्व एवं वितरण दोषों को सब प्रकार की दुरावस्था की जड़ मानकर उसमें सुधार करना ही अपना एकमेव कर्त्तव्य समझता है। उसका एकमेव लक्ष्य 'अर्थ' है। साम्यवादी एवं समाजवादी इसी वर्ग के लोग हैं। इनके अनुसार भारत की राजनीति का निर्धारण अर्थ-नीति के आधार पर होना चाहिए, तथा संस्कृति एवं मत (Religion) को वे गौण समझकर अधिक महत्त्व देने को तैयार नहीं हैं।

राजनीतिवादी

राजनीतिवादी दूसरा वर्ग है। यह जीवन का सम्पूर्ण महत्त्व, राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करने में ही समझता है तथा राजनीतिक दृष्टि से ही संस्कृति, मजहब तथा अर्थनीति की व्याख्या करता है। अर्थवादी यदि एकदम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अथवा बिना मुआवजा दिये जमींदारी-उन्मूलन चाहता है तो राजनीतिवादी अपने राजनीतिक कारणों से ऐसा करने में असमर्थ है। इस प्रकार उसके लिए संस्कृति एवं मजहब का भी मूल्य अपनी राजनीति के लिए ही है, अन्यथा नहीं। इस वर्ग के अधिकांश लोग कांग्रेस में हैं जो आज भारत की राजनीतिक बागडोर संभाले हुए हैं।

मतवादी

तीसरा वर्ग मजहब-परस्त या मतवादी है। इसे धर्मनिष्ठ कहना ठीक होगा; क्योंकि धर्म, मजहब या मत से बड़ा तथा विशाल है। यह वर्ग अपने-अपने मजहब के सिद्धान्तों के अनुसार ही देश की राजनीति अथवा अर्थनीति को चलाना चाहता है। इस प्रकार का वर्ग मुल्ला-मौलवियों अथवा रूढ़िवादी कट्टरपंथियों के रूप में अब भी विद्यमान है, यद्यपि आजकल उसका बहुत प्रभाव नहीं रह गया है।

संस्कृतिवादी

चौथा वर्ग संस्कृतिवादी है। इसका विश्वास है कि भारत की आत्मा का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृति ही है। अतः अपनी संस्कृति की रक्षा एवं विकास ही

हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए। यदि हमारा सांस्कृतिक ह्रास हो गया तथा हमने पश्चिम के अर्थ-प्रधान अथवा भोग-प्रधान जीवन को अपना लिया तो हम निश्चित ही समाप्त हो जायेंगे। यह वर्ग भारत में बहुत बड़ा है। इसके लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में तथा कुछ अंशों में कांग्रेस में भी हैं। कांग्रेस के ऐसे लोग राजनीति को केवल संस्कृति का पोषक मात्र ही मानते हैं, संस्कृति का निर्णायक नहीं। हिन्दीवादी सब लोग इसी वर्ग के हैं।

मार्गों की प्राचीनता

उपर्युक्त चार वर्गों की विवेचना में यद्यपि हमने आधुनिक शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु प्राचीन काल में भी ये चार प्रवृत्तियाँ उपस्थित थीं तथा इनमें से एक प्रवृत्ति को ही अपनाकर हमने अपने जीवन के आदर्श का मानदण्ड बनाया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही चार प्रवृत्तियाँ हैं। धर्म संस्कृति का, अर्थ भौतिक वैभव का, काम राजनैतिक आकांक्षाओं का तथा मोक्ष पारलौकिक उन्नति का द्योतक था। इनमें से हमने धर्म को ही अपने जीवन का आधार बनाया है, क्योंकि उसके द्वारा ही हमने शेष सबको सधते हुए देखा है। इसीलिए जब महाभारत काल में धर्म की अवहेलना होनी प्रारम्भ हुई, तब महर्षि व्यास ने कहा–

"ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।।"

अर्थ और काम की ही नहीं, मोक्ष की भी प्राप्ति धर्म से होती है; इसलिए धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः।" जिससे ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो वही धर्म है। यह धर्म निश्चित ही अंग्रेजी का रिलीजन नहीं है। रिलीजन के लिए तो हमने मत शब्द का प्रयोग किया है, जो प्रत्येक के लिए भिन्न होता था तथा मोक्ष-निर्वाण अथवा परमानन्द-प्राप्ति का साधन होता था, जबकि धर्म के द्वारा सम्पूर्ण समाज की धारणा तथा उसके अंगों का पालन होता था। इसलिए धर्म की भी व्याख्या की गयी है :–

'धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।'

धर्म प्रधान भारतीय जीवन

भारतीय जीवन को धर्म-प्रधान बनाने का प्रमुख कारण यह था कि इसी में

जीवन के विकास की सबसे अधिक निश्चिति है। आर्थिक दृष्टिकोण वाले लोग यद्यपि आर्थिक समानता के पक्षपाती हैं, किन्तु वे व्यक्ति की राजनीतिक एवं आत्मिक सत्ता को पूर्णतः समाप्त कर देते हैं। राजनीतिवादी प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार देकर उसके राजनैतिक व्यक्तित्व की रक्षा तो अवश्य करते हैं किन्तु आर्थिक एवं आत्मिक दृष्टि से वे भी अधिक विचार नहीं करते। अर्थवादी यदि जीवन को भोग-प्रधान बनाते हैं तो राजनीतिवादी उसको अधिकार-प्रधान बना देते हैं। मतवादी बहुत कुछ अव्यावहारिक, गतिहीन एवं संकुचित हो जाते हैं। किसी-किसी व्यक्ति विशेष अथवा पुस्तक विशेष के विचारों के वे इतने गुलाम हो जाते हैं कि समय के साथ वे अपने आपको नहीं रख पाते तथा इस प्रकार पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। इन सबके विपरीत संस्कृति-प्रधान जीवन की यह विशेषता है कि इसमें जीवन के केवल मौलिक तत्त्वों पर तो जोर दिया जाता है, पर शेष बाह्य बातों के सम्बन्ध में प्रत्येक को स्वतंत्रता रहती है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रत्येक क्षेत्र में विकास होता है। संस्कृति किसी काल विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के बंधन से जकड़ी हुई नहीं है, अपितु यह तो स्वतंत्र एवं विकासशील जीवन की एक मौलिक प्रवृत्ति है। इस संस्कृति को ही हमने धर्म कहा है। अतः जब कहा जाता है कि भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश है तो इसका अर्थ मजहब, मत या रिलीजन नहीं, किन्तु यह संस्कृति ही होता है।

भारत की विश्व को देन

हमने देखा है कि भारत की आत्मा को समझना है तो उसे राजनीति अथवा अर्थ-नीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही देखना होगा। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा न होकर उसकी संस्कृति के द्वारा ही होगी। विश्व को भी यदि हम कुछ सिखा सकते हैं तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्त्तव्य-प्रधान जीवन की भावना की ही शिक्षा दे सकते हैं, राजनीति अथवा अर्थनीति की नहीं। उसमें तो शायद हमको उनसे ही उल्टे कुछ सीखना पड़े। अर्थ, काम और मोक्ष के विपरीत धर्म की प्रमुख भावना ने भोग के स्थान पर त्याग, अधिकार के स्थान पर कर्त्तव्य तथा संकुचित असहिष्णुता के स्थान पर विशाल एकात्मता प्रकट की है। इनके साथ ही हम विश्व में गौरव के साथ खड़े हो सकते हैं।

संघर्ष का आधार

भारतीय जीवन का प्रमुख तत्त्व उसकी संस्कृति अथवा धर्म होने के कारण उसके इतिहास में भी जो संघर्ष हुए हैं, वे अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिए ही हुए हैं तथा इसी के द्वारा हमने विश्व में ख्याति भी प्राप्त की है। हमने बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण को महत्त्व न देकर अपने सांस्कृतिक जीवन को पराभूत नहीं होने दिया। यदि हम अपने मध्ययुग का इतिहास देखें तो हमारा वास्तविक युद्ध अपनी संस्कृति के रक्षार्थ ही हुआ है। उसका राजनीतिक स्वरूप यदि कभी प्रकट भी हुआ तो उस संस्कृति की रक्षा के निमित्त ही। राणा प्रताप तथा राजपूतों का युद्ध केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए नहीं था किन्तु धार्मिक स्वतंत्रता के लिए ही था। छत्रपति शिवाजी ने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना गौ-ब्राह्मण-प्रतिपालक के लिए ही की। सिक्ख-गुरुओं ने समस्त युद्ध-कर्म धर्म की रक्षा के लिए ही किये। इन सबका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि राजनीति का कोई महत्त्व नहीं था तथा राजनीतिक गुलामी हमने सहर्ष स्वीकार कर ली थी; किन्तु तात्पर्य यह है कि राजनीति को हमने जीवन में केवल सुख का कारण-मात्र माना है, जबकि संस्कृति सम्पूर्ण जीवन ही है।

संस्कृतियों का संघर्ष

आज भी भारत में प्रमुख समस्या सांस्कृतिक ही है। वह भी आज दो प्रकार से उपस्थित है, प्रथम तो संस्कृति को ही भारतीय जीवन का प्रथम तत्त्व मानना तथा दूसरा इसे मान लेने पर उस संस्कृति का रूप कौन सा हो ? विचार के लिए यद्यपि यह समस्या दो प्रकार की मालूम होती है, किन्तु वास्तव में है एक ही। क्योंकि एक बार संस्कृति को जीवन का प्रमुख एवं आवश्यक तत्त्व मान लेने पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में झगड़ा नहीं रहता, न उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद ही उत्पन्न होता है। यह मतभेद तो तब उत्पन्न होता है जब अन्य तत्त्वों को प्रधानता देकर संस्कृति को उसके अनुरूप उन ढाँचों में ढँकने का प्रयत्न किया जाता है।

इस दृष्टि से देखें तो आज भारत में एक-संस्कृतिवाद, द्वि-संस्कृतिवाद तथा बहु-संस्कृतिवाद के नाम से तीन वर्ग दिखायी देते हैं। एक-संस्कृतिवाद के पुरस्कर्ता भारत में विकसित एक ही भारतीय संस्कृति का अस्तित्व मानते हैं तथा अन्य संस्कृतियों के लिए जो विदेशों से भारत में आयी हैं, आवश्यक समझते हैं कि वह

भारतीय संस्कृति में विलीन हो जायँ। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ इसी एक-संस्कृतिवाद का पोषक तथा कांग्रेस में श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन प्रभृति व्यक्ति इसी वाद के पोषक रहे हैं।

द्वि-संस्कृतिवादी

द्वि-संस्कृतिवादी दो प्रकार के हैं। एक तो स्पष्ट तथा दूसरे प्रच्छन्न। एक वर्ग भारत में स्पष्टतया दो संस्कृतियों का अस्तित्व मानता है तथा उनको बनाये रखने की माँग करता है। मुस्लिम लीगी इसी मत के हैं। वे हिन्दू और मुस्लिम दो संस्कृतियों को मानते हैं तथा उनका आग्रह है कि मुसलमान अपनी संस्कृति की रक्षा अवश्य करेगा। दो संस्कृतियों के आधार पर ही उन्होंने दो राष्ट्रों का सिद्धान्त सामने रखा, जिसके परिणाम को हम पिछले वर्षों में भली-भाँति अनुभव कर चुके हैं। प्रच्छन्न द्वि-संस्कृतिवादी वे लोग हैं, जो स्पष्टतया तो दो संस्कृतियों का अस्तित्व नहीं मानते, मूल से एक संस्कृति एवं एक राष्ट्र का ही राग अलापते हैं, किन्तु व्यवहार में दो संस्कृतियों को मानकर उनका समन्वय करने का असफल प्रयत्न करते हैं। वे यह तो मान लेते हैं कि हिन्दू और मुसलमान दो संस्कृतियाँ हैं किन्तु उनको मिलाकर एक नवीन हिन्दुस्तानी संस्कृति बनाना चाहते हैं। अतः हिन्दी-उर्दू का प्रश्न वे हिन्दुस्तानी बनाकर हल करना चाहते हैं तथा अकबर को राष्ट्र-पुरुष मानकर अपने राष्ट्र के महापुरुषों के प्रश्न को हल करना चाहते हैं। 'नमस्ते' और 'सलामालेकुम' का काम ये 'आदाब-अर्ज' से चला लेना चाहते हैं। यह वर्ग कांग्रेस में बहुमत में है। दो संस्कृतियों के मिलाने के अब तक असफल प्रयत्न हुए हैं किन्तु परिणाम विघातक ही रहा है। मुख्य कारण यह है कि जिसको मुस्लिम संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है वह किसी मजहब की संस्कृति न होकर अनेक अभारतीय संस्कृतियों का समुच्चय मात्र है। फलतः उसमें विदेशीपन है, जिसका मेल भारतीयत्व से बैठना कठिन नहीं, असम्भव भी है। इसलिए यदि भारत में एक संस्कृति और एक राष्ट्र को मानना है तो वह भारतीय संस्कृति एवं भारतीय हिन्दू राष्ट्र, जिसके अन्तर्गत मुसलमान भी आ जाते हैं, के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।

बहु-संस्कृतिवादी

बहु-संस्कृतिवादी वे लोग हैं जो प्रान्त की निजी संस्कृति मानते हैं तथा उस प्रान्त को उस आधार पर आत्म-निर्णय का अधिकार देकर बहुत कुछ अंशों में

स्वतंत्र ही मान लेते हैं। साम्यवादी एवं भाषानुसार प्रान्तवादी लोग इस वर्ग के हैं। वे भारत में सभी प्रान्तों में भारतीय संस्कृति की अखण्ड धारा का दर्शन नहीं कर पाते।

संस्कृति से भिन्न जीवन का आधार

उपरोक्त तीनों प्रकार के वर्गों का प्रमुख कारण यह है कि उनके सम्मुख संस्कृति-प्रधान जीवन न होकर मजहब, राजनीति अथवा अर्थनीति प्रधान जीवन ही है। मुस्लिम लीग ने अपने अमूर्त्त तत्त्व का आधार मुस्लिम मजहब समझकर ही भिन्न मुस्लिम संस्कृति एवं राष्ट्र का नारा लगाया तथा उसके आधार पर ही अपनी सब नीति निर्धारित की। कांग्रेस का जीवन एवं लक्ष्य राजनीति-प्रधान होने के कारण उसने अंग्रेजों का मुकाबला करने के लिए तथा शासन चलाने के लिए सब वर्गों को मिलाकर खड़ा करने का विचार किया, जिसके कारण अप्रत्यक्ष रूप से वह भी द्वि-संस्कृतिवाद का शिकार बन गई। बहु-संस्कृतिवादी जीवन को अर्थ-प्रधान मानते हैं, अतः वे आर्थिक एकता की चिन्ता करते हुए सांस्कृतिक एकता की ओर से उदासीन रह सकते हैं।

एक राष्ट्र और एक संस्कृति

केवल एक-संस्कृतिवादी लोग ही ऐसे हैं जिनके समक्ष और कोई ध्येय नहीं है तथा जैसा कि हमने देखा, संस्कृति ही भारत की आत्मा होने के कारण वे भारतीयता की रक्षा एवं विकास कर सकते हैं। शेष सब तो पश्चिम का अनुकरण करके या तो पूँजीवाद अथवा रूस की तरह आर्थिक प्रजातंत्र तथा राजनैतिक पूँजीवाद का निर्माण करना चाहते हैं। अतः उनमें सब प्रकार की सद्भावना होते हुए भी इस बात की संभावना कम नहीं है कि उनके द्वारा भी भारतीय आत्मा का तथा भारतीयत्व का विनाश हो जाय। अतः आज की प्रमुख आवश्यकता तो यह है कि एक-संस्कृतिवादियो के साथ पूर्ण सहयोग किया जाय। तभी हम गौरव और वैभव से खड़े हो सकेंगे तथा राष्ट्र-विघटन जैसी भावी दुर्घटनाओं को रोक सकेंगे।

☆

भारतीय राजनीति की एक मौलिक भूल

गत अर्द्ध शताब्दी की राजनीतिक हलचलों का परिणाम आज का भारतीय जीवन कहा जाय तो किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी और आज के जीवन से असंतुष्ट व्यक्ति का ध्यान पिछले राजनीतिक आन्दोलनों का विश्लेषण करने की ओर स्वाभाविक रूप से जा सकता है। उन आन्दोलनों की सफलता या असफलता को न आँकते हुए भी तनिक गंभीरता से विचार करने पर यह दिखता है कि हमारी सम्पूर्ण राजनीति की भित्ति कुछ ऐसे तथ्यों पर खड़ी हुई है, जिनकी सत्यता के विषय में ही शंका उत्पन्न होती है। आज तक उन तथ्यों को स्वयंसिद्ध एवं सत्य मानकर चला गया है तथा हमारे बड़े से बड़े राजनीतिक महापुरुष ने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा और शक्ति उन तथ्यों के आधार पर आन्दोलन करने और राष्ट्र चेतना उत्पन्न करके राजनीतिक मन्तव्य सिद्ध करने में लगा दी है और आज भी भारत के नवनिर्माण का स्वप्न देखने वाले अनेक मनीषी उन तथ्यों को वज्र-रेखा मानकर चलते हैं। उन तथ्यों से निकाले हुए परिणामों और उनकी समस्याओं के हल के सम्बन्ध में चाहे भिन्न-भिन्न दलों में झगड़ा हो किन्तु उन तथ्यों की सत्यता के सम्बन्ध में वे भी एकमत हैं। इसलिए नहीं कि उन्होंने उनको सत्य की कसौटी पर कसकर खरा पाया है अपितु इसलिए कि इस संबंध में उन्होंने कभी विचार ही नहीं किया। पृथ्वी को स्थिर मानकर, सूर्य को उसके चारों ओर प्रदक्षिणा करता हुआ मानकर टालेमी आदि विद्वानों ने अनेक सिद्धांतों की रचना की किन्तु कोपरनिकस के आविर्भाव तक किसी को यह ज्ञान न हो सका कि उनके सम्पूर्ण ज्योतिष का आधार ही मिथ्या है।

भारतीय राजनीतिज्ञों की सबसे बड़ी भूल यह है कि वे भारत के भिन-भिन्न वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं। उनके इस अस्तित्व को स्वीकार करके फिर वे इस बात का प्रयत्न करते हैं कि यह अस्तित्व किस प्रकार राष्ट्र के हितार्थ काम में आये। आज तक उनका सम्पूर्ण प्रयत्न इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वतंत्र मानी हुई

इकाइयों के बीच एकता और सामञ्जस्य स्थापित करने का ही रहा है। उनमें महत्तम समापवर्तक ढूँढने का उन्होंने प्रयास किया है किन्तु संस्थाएँ इतनी रूढ़ होती जाती हैं कि उनका समापवर्तक ही नहीं मिल पाता। किसी भी वर्ग के अस्तित्व को, जो कि वास्तविक नहीं है, संकट न पहुँचाते हुए, बल्कि उनका संवर्द्धन ही करते हुए, आज तक के राजनीतिक प्रश्न हल करने का प्रयत्न किया गया है और उसका परिणाम सदा ही असफलता के रूप में आया है।

अंग्रेजों के राज्यकाल में हमने यह स्वीकार किया कि देश में मुसलमान, ईसाई आदि अनेक वर्ग हैं तथा उनके स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए ही राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकेगा। वास्तव में राष्ट्रीयता के स्तर पर उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना एक बड़ी भारी भूल है क्योंकि मुसलमान, ईसाई आदि का वर्गीकरण मजहब के आधार पर करना राष्ट्रीयता से भिन्न बात है। एक मजहब के मानने वाले अनेक राष्ट्रों के अंग हो सकते हैं और एक ही राष्ट्र में अनेक मजहब के मानने वालों का समावेश हो सकता है। राष्ट्रीयता यदि कोई शक्तिशाली प्रेरणा है तो उसके चेतना-क्षेत्र में मजहब का प्रवेश नहीं होता किन्तु आज तक हमारा प्रयत्न यही रहा है कि इन वर्गों का स्वतंत्र अस्तित्व मानकर उनका एकीकरण करें, ऐसा एकीकरण जिसमें किसी को कुछ भी न छोड़ना पड़े। मजे की बात यह है कि यह जो सबको मिलाकर एक बनाने वाले तत्त्व हैं, उनकी भी स्पष्ट कल्पना किसी को नहीं। पं. जवाहरलाल नेहरू ने अनेक बार कहा था कि स्वतन्त्र भारत का राज्य न हिन्दू का होगा, न मुसलमानों का होगा और न ईसाई का। प्रश्न आता है कि फिर किसका होगा ? इसका उत्तर बहुत लोगों ने यह कहकर देने का प्रयत्न किया है कि वह 'हिन्दुस्तानियों' का होगा। किन्तु फिर झगड़ा आता है कि यह हिन्दुस्तानी कौन ? इसमें किसका कितना समावेश होगा ? और किस आधार पर होगा ? क्या संख्या-बल के आधार पर या और किसी आधार पर ? अभी तक हमने संख्या-बल का आधार माना है तथा जिस-जिस चीज को ये वर्ग अपना कह कर खड़े हुए हैं उनको मिलाने का प्रयत्न किया है। अंग्रेजों से होने वाले सभी समझौतों तथा उस काल के सभी आन्दोलनों में वही प्रश्न मुख्य रहा है तथा उसका परिणाम 'पाकिस्तान' हुआ यह मानने में किसी समझदार व्यक्ति को आपत्ति न होगी।

इस प्रकार वर्गीकरण केवल साम्प्रदायिक आधार पर ही नहीं, भाषा और

आर्थिक आधारों पर भी किया जाता है। आज हमारे सभी नेता यह मानकर चलते हैं कि प्रत्येक भाषा-भाषी वर्ग का एक स्वतंत्र अस्तित्व है तथा ऐसे अनेक स्वतन्त्र वर्गों को मिलाकर समूचे भारत की रचना करनी चाहिए। इसी का परिणाम हमारी 'इण्डियन यूनियन' तथा उसका प्रस्तुत विधान है। इस कल्पना ने 'प्रान्तीय स्वतंत्रता' नाम के सिद्धान्त को जन्म दिया है तथा आज जब प्रांतों का एक भी अधिकार केन्द्र अपने हाथ में लेता है तो प्रांत-प्रतिनिधि प्रांतीय स्वतंत्रता की दुहाई देकर प्रांतों को म्यूनिसिपैलिटी के समकक्ष बनाने के प्रयत्नों की निन्दा करने लगते हैं। साम्प्रदायिक स्वतंत्रता का परिणाम यदि पाकिस्तान हुआ है तो इस प्रान्तीय स्वतंत्रता का परिणाम क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतलायेगा।

आर्थिक आधार पर भी स्वतंत्र वर्गों की कल्पना की जाती है। एक जमींदार तो दूसरा कृषक, एक पूँजीपति तो दूसरा मजदूर, एक शोषक तो दूसरा शोषित। इस प्रकार का वर्गीकरण करके तो एक को दबाकर दूसरे का प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न होता है या अधिक से अधिक दोनों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

उपर्युक्त सभी एवं ऐसे अनेक वर्ग जिनको राजनीतिज्ञ, कठोर सत्य मानकर चलते हैं, वास्तव में मिथ्या है तथा जब तक हम उनका अस्तित्व मानकर, उनको संतुष्ट करने की नीति अपनाकर उनके अहंकार और स्वार्थ की वृद्धि करते रहेंगे तब तक राजनीति विपरीत दिशा में ही बहती रहेगी। सत्य तो यह है कि सम्पूर्ण भारत एक है तथा भारत की सम्पूर्ण सन्तान एक है और उसको इस एकता का अनुभव करते हुए रहना चाहिए। अनेक अंगों को इकट्ठा करके शरीर की सृष्टि नहीं होती किन्तु शरीर के अनेक अंग होते हैं और इसलिए प्रत्येक अवयव अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए नहीं अपितु शरीर के अस्तित्व के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार राष्ट्र के सभी अंगों को अपनी रूप-रेखा, राष्ट्रीय स्वरूप और हितों के अनुकूल बनाना चाहिए न कि राष्ट्र को ही इन अंगों के अनुसार काटा-छाँटा जाय। सम्प्रदायों, प्रान्तों, भाषाओं और वर्गों का तभी तक मूल्य है जब तक वे राष्ट्र-हित के अनुकूल हैं अन्यथा उनका बलिदान करके भी राष्ट्र की एकता की रक्षा करनी होगी।

प्रथम दृष्टिकोण में अनेक को सत्य मानकर एक की कल्पना का प्रयत्न है तो दूसरे में एक को सत्य मानकर अनेक उसके रूप मात्र हैं। जैसे नदी के जल में

आवर्त्त-विवर्त्त तरंग आदि अनेक रूप होते हैं किन्तु उनका अस्तित्व नदी के जल से भिन्न और स्वतंत्र नहीं होता और न नदी उनके समुदाय का ही नाम है। दुःख का विषय है कि आज भी देश की बागडोर जिनके हाथ में है, वे प्रथम दृष्टिकोण से ही समस्त समस्याओं को देखते हैं। जब तक राजनीति की इस मौलिक भूल का परिमार्जन नहीं होगा तब तक राजनीतिक भारत का निर्माण सुदृढ़ नींव पर नहीं हो सकता।

संविधान का क्या करें ?

कहते हैं कि एक काबुली ने साबुन वाले की दूकान से एक साबुन की बट्टी कलाकन्द के भ्रम में खरीद ली और खाने लगा। मुँह में पड़ते ही साबुन का स्वाद तो मालूम हो गया किन्तु फिर भी वह खाता ही रहा। इस पर किसी ने पूछा– "खान क्या खाते हो ?" तो खान ने तपाक से जवाब दिया– "खान खाता क्या है ? अपना पैसा खाता है।" बस यही बात आज अपने संविधान के सम्बन्ध में एक साधारण भारतीय की मनःस्थिति के बारे में कही जा सकती है।

हमने अनेक वर्षों से एक संविधान-सभा की माँग की थी और चाहा था कि हमारे ऊपर कोई विधान बाहर से न लादा जाय, अपितु हम स्वयं अपने संविधान के निर्माता हों। सन् १९३५ के गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट के विधेयक (Bill) की स्थिति में मजदूर दल द्वारा की गयी आलोचना का उत्तर देते हुए श्री होर ने कहा था कि "जिन कमियों के कारण मजदूर दल के नेताओं को यह आशंका हो रही है कि कांग्रेस इस विधान को स्वीकार नहीं करेगी तो उन्हें ज्ञात होना चाहिए कि कांग्रेस अपनी संविधान सभा के द्वारा स्वीकृत विधान के अतिरिक्त और किसी विधान को नहीं मानेगी।" इन शब्दों में कांग्रेस की मान्यता की स्वीकृति के सम्बन्ध में की गयी भविष्यवाणी चाहे सर्वांश में सत्य न निकली हो किन्तु देशभक्ति के मूलभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन अवश्य हुआ है। 'स्वराज्य की भूख को सुराज्य से नहीं मिटाया जा सकता' इस सत्य के अनुसार ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के द्वारा बनाये गये विधानों का सबसे बड़ा दोष यह था कि वे परकीय सत्ता के द्वारा निर्मित विधान थे और उसके विपरीत आज के भारत के संविधान का सबसे बड़ा गुण यह है कि उसका निर्माण इस देश के ही कतिपय लोगों ने किया और इसलिए इस संविधान को स्वीकार करना प्रत्येक देशभक्त का कर्त्तव्य हो जाता है। लगभग एक करोड़ रुपया व्यय करके ३ वर्ष की अवधि में यह संविधान तैयार हुआ है। अतः 'खान के पैसे' के समान उसे तो गले के नीचे उतारना ही होगा, फिर स्वाद चाहे जैसा हो।

अतः संविधान की पहली प्रतिक्रिया तो उसका पुरस्कार करने की होती है। पुरस्कार केवल इसलिए कि वह अपना है, और इसी भावना से देश की अधिकांश जनता इस ओर देखती है क्योंकि ९० प्रतिशत अशिक्षित जनता को छोड़ दीजिये, शेष १० प्रतिशत में से भी ९ ऐसे हैं, जिनको न तो यह पता है कि विधान क्या है और उसमें क्या-क्या है और न उनमें इतनी शक्ति ही है कि वह भविष्य के गर्भ में पैठकर कल्पना कर सकें कि संविधान की विभिन्न व्यवस्थाओं का उनके जीवन पर क्या परिणाम पड़ने वाला है ? वे इस ओर से उदासीन हैं। वे ही नहीं, जिनके ऊपर गरीब भारत की गाढ़ी कमाई के ४५ रुपये रोज व्यय किये गये, ऐसे ४५ रुपये रोज पाने वाले अनेक संविधान-सभा के सदस्य भी इस ओर से यहाँ तक उदासीन थे कि कई बार तो गणपूरक (कोरम) की कमी के कारण सभा की कार्यवाही भी स्थगित कर देनी पड़ी। सर्वश्री कुंजरू, कामथ, शिब्बनलाल सक्सेना प्रभृति कुछ अंगुलियों पर गिने जाने वाले सदस्यों को यदि छोड़ दिया जाय तो ऐसे थोड़े ही सदस्य होंगे जिन्होंने अपने मस्तिष्क और मुख को संविधान के सम्बन्ध में कुछ भी कष्ट दिया हो। इसलिए जब कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि यह संविधान सभा आम चुनावों के आधार पर निर्मित न होने से सर्वसाधारण जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती तो विचार उठता है कि यदि आम चुनाव भी होते तो परिणाम क्या भिन्न होता ? सिर्फ 'खान' की रकम अधिक खर्च हो जाती। सच में तो प्रारूप समिति और दो-चार सदस्यों के अतिरिक्त और कोई भी इस सभा का सदस्य होता तो भी यही संविधान बनता जो आज बना है। यदि आम चुनाव भी होते तो अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि अशिक्षित लोकमत इससे भिन्न रूप में प्रकट नहीं हो सकता था।

किन्तु पहली प्रतिक्रिया का जोश समाप्त होते ही संविधान की धाराओं का विचार करना पड़ता है और कल्पना करनी होती है उससे होने वाले इष्ट या अनिष्टकर परिणाम की। लोकतन्त्र के आदर्श के अनुसार वयस्क मताधिकार और पूर्णतः लोकतंत्रीय शासन-प्रणाली तो अभिमान की वस्तु है, प्रगति का वह बिन्दु है जहाँ तक बड़े-बड़े सभ्य देश भी नहीं पहुँच पाये हैं। किन्तु साथ ही आज की परिस्थिति में जनता में राजनैतिक क्षमता का अभाव, उसका गिरा हुआ नैतिक स्तर जिस पर वह तो क्या, उसके नेता भी सहज भ्रष्ट हो सकते हैं, आत्माभिमान की कमी, एक हजार वर्ष की गुलामी और निरंकुश शासन में रहते-रहते स्वशासन और लोकतन्त्रात्मक परम्पराओं से शून्य स्थिति, अन्तर्बाह्य अशांति की अवस्था तथा अधिकारियों द्वारा लोकमत की उपेक्षा का प्रचलित भाव देखकर आशंका होती

है कि इस आदर्श को हम व्यवहार में कहाँ तक उपयोगी बना सकेंगे। आज सम्पूर्ण जनता को अधिकार तो मिल गये हैं और उसके अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान में सब प्रकार की व्यवस्था भी की गयी है। किन्तु आज तो निर्माण का काल है, क्या अधिकार की भावना से यह निर्माण हो सकेगा ? मैजिनी ने तो कहा है कि "अधिकार अपने नग्न रूप में विरोध का संघटन कर सकता है, ध्वंस कर सकता है, पर निर्माण नहीं कर सकता। कर्त्तव्य निर्माण करता है और समाज की सामूहिक शक्ति की एकता को स्थापित करता है।"

अतः अच्छा सिद्धान्त रखने पर भी मालूम होता है कि इसका पुरस्कार करने पर कहीं भोली जनता को भ्रम में डालकर ध्वंस करने वाली शक्तियाँ ही आगे न बढ़ जायें। कांग्रेस की पार्टीबाजी तथा विभिन्न भेदों के आधार पर बनने वाली अनेक राजनीतिक पार्टियाँ इस आशंका को और भी पुष्ट करती मालूम होती हैं।

भारत को 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न' तो घोषित कर दिया गया है किन्तु उसका यह प्रभुत्व रह सके, इसकी व्यवस्था भली-भाँति नहीं की गयी है। देश में एक ही नागरिकता तथा केन्द्र को पर्याप्त शक्ति देकर यद्यपि भारत की एकता को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु उसको विभिन्न राज्यों का संघ मानकर तो उस एकता के मूल पर ही कुठाराघात किया गया है। शरीर विभिन्न अंगों का समुच्चय नहीं अपितु शरीर के विभिन्न अंग हैं। संघीय कल्पना का परिणाम निश्चित ही भारत की एकता के लिए घातक होगा तथा देश में राष्ट्र-विरोधी भावनाओं को प्रश्रय मिलेगा। राज्यों के अधिकार की लड़ाई राष्ट्रीयता के अभाव में कभी भी भयानक स्वरूप धारण कर सकती है तथा आज भाषानुसार प्रान्त-रचना की माँग के पीछे इस दुष्प्रवृत्ति की झलक स्पष्ट दिख रही है। भारत की संघीय कल्पना एक पौलिक भूल है जिसका पुरस्कार किसी भी मूल्य पर नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त संविधान में अनेक ऐसी कमियाँ हैं, जिन्हें कोई भी देख सकता है। १९३५ का इण्डिया एक्ट अधिकांश ज्यों का त्यों संविधान में ले लिया गया है। फिर शेष बातों के लिए भी उसका आधार पश्चिम का ज्ञान ही रहा है। अमेरिका की अध्यक्षात्मक और ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली का विचित्र मेल बैठाने का प्रयत्न किया गया है। संसद् और राष्ट्रपति यदि विभिन्न दलों के हुए तो दोनों की खींचतान दुनियाँ के मजे की और देश के लिए संकट की चीज हो जायेगी। भारत के संविधान में भारतीयता का अभाव अनहोनी सी बात है, किन्तु है अवश्य। देश के नाम, राष्ट्र-भाषा आदि प्रश्नों के ऊपर जो निर्णय लिये गये हैं, वे

राष्ट्र-जीवन की मौलिक कल्पना की विकृति के ही परिचायक हैं।

फिर भारत के संविधान में इतनी बातों का समावेश किया गया है कि उसमें अधिकांश अनावश्यक हैं तो कई भावी पीढ़ी को जोड़ने वाली भी हैं। आज की सभी कल्पनाओं से भावी सन्तति को बाँध देना उसकी प्रगति में बाधा डालना है। फलतः ऐसे-ऐसे प्रतिबन्ध संविधान में सन्निहित हैं जो किसी भी देश के विधान में ढूँढे से भी नहीं मिलेंगे। अध्यक्ष के चुनाव से लेकर साधारण कर्मचारी तक के सम्बन्ध में धाराएँ जोड़ दी गयी हैं। फलतः संविधान में एक ओर तो अत्युच्च आदर्शों का संकल्प है; जिसमें समाज की आज की स्थिति का कोई भी ध्यान नहीं रखा गया, तो दूसरी ओर निहित स्वार्थों के संरक्षण की व्यवस्था भी कर दी गयी है। अच्छे नियमों के सम्बन्ध में कहा है है कि "you do not enact a good law, but you grow it." किन्तु यहाँ तो संविधान के विकास का मार्ग ही बन्द कर दिया गया है।

तो फिर क्या संविधान का बहिष्कार किया जाय ? यह प्रश्न स्वाभाविक रीति से उठता है। जिस संविधान के द्वारा देश की भविष्य में निश्चित हानि होने वाली है, उसका पुरस्कार कैसे करें ? किन्तु इसी क्षण विचार आता है कि यदि अपने ही लोगों द्वारा निर्मित संविधान का बहिष्कार किया गया तो एक गलत परम्परा निर्मित होगी, जिसमें भावात्मक के स्थान पर अभावात्मक एवं क्रियात्मक के स्थान पर प्रतिक्रियात्मक वृत्ति ही निर्माण होगी। फिर क्या संविधान का पुरस्कार करते हुए उसे समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय, जैसा कि महात्मा जी ने सन् १९३५ के एक्ट के सम्बन्ध में किया ? किन्तु बहिष्कार के लिए पुरस्कार भी ठीक नहीं, और न इस बात का ही दावा किया जा सकता है कि आगे आने वाली संविधान-सभा सर्वांगपूर्ण संविधान ही बनायेगी, क्योंकि कोई संविधान पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

ऐसी स्थिति में एक ही मार्ग है और वह है परिष्कार के लिए पुरस्कार। अपने उस्तरे से बेंट और छुरे को बारी-बारी से बदलवाकर ६० वर्ष तक एक ही उस्तरे को चलाने वाले नाई की भाँति हमारे संविधान का आमूल बहिष्कार कहाँ तक संभव होगा, यह तो भविष्य ही बतायेगा।

☆

राष्ट्रभाषा की समस्या

राज भाषा के संबंध में राष्ट्रपति का आदेश जब दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में रखा गया, उस समय संसद के बजट सत्र का अन्तिम दिन था। फलतः सदस्यों को उस संबंध में अपने विचार प्रकट करने का अवसर नहीं मिला।

शासन ने इस विषय में आरम्भ से ही इस प्रकार की नीति अपना रखी है। न मालूम किस कारण से वह सदस्यों को इस विषय पर खुलकर विचार नहीं करने देता। जो भी प्रतिवेदन रखा जाता है वह सत्र की समाप्ति पर ही रखा जाता है।

संविधान के अनुसार ५ वर्ष के बाद शासन ने हिन्दी को राजभाषा बनाने की दिशा में क्या प्रगति की है और उसे कौन से पग भविष्य में उठाने चाहिए, इसका विचार और विधान करने के हेतु ही अनुच्छेद ३४४ के अन्तर्गत राजभाषा आयोग, संसदीय समिति एवं राष्ट्रपति के आदेश की व्यवस्था की गयी है।

संविधान २६ जनवरी, १९५० को लागू हुआ। २६ जनवरी १९५५ के बाद अनुच्छेद ३४४ के अन्तर्गत कार्यवाही होनी चाहिए, किन्तु जिस मन्थर गति से यह कार्यवाही हुई, उसमें ५ वर्ष से अधिक समय बीत गया। वास्तव में २६ जनवरी १९६० के बाद दूसरा राजभाषा-आयोग स्थापित होना चाहिए था।

राष्ट्रपति ने अपने आदेश में संविधान के अनुच्छेद ३४४ द्वारा उन पर सौंपे हुए दायित्व का निर्वाह तो किया ही नहीं, उल्टे अनुच्छेद ३४३ की उक्त मर्यादाओं का अतिक्रमण अवश्य किया। आदेश में कहा गया कि सन् १९५५ के बाद भी अंग्रेजी एक 'सहयोगी भाषा' के रूप में चलती रहेगी।

अनुच्छेद ३४३ में अथवा भाग १७ में जहाँ राजभाषा का विधान हुआ है 'सहयोगी राजभाषा' के रूप में अंग्रेजी अथवा किसी अन्य भाषा की कल्पना नहीं की गयी है। संविधान निर्माताओं को न यह शब्द ही सूझा और न उन्होंने इसकी आवश्यकता ही समझी। उन्होंने तो स्पष्ट रूप में यह कहा कि 'संघ की राजभाषा

हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी तथा १५ वर्ष की कालावधि में अंग्रेजी का उपयोग केवल राजकीय प्रयोजनों के लिए होगा।' १५ वर्ष के बाद साधारण अंग्रेजी का राजकाज में कोई सहयोग नहीं रह जाता। हाँ, यदि संसद् आवश्यक समझे तो "विधि द्वारा अंग्रेजी भाषा का ऐसे प्रयोजनों के लिए उपयोग उपबन्धित कर सकेगी जैसे कि उस विधि में उल्लिखित हों।" स्पष्ट है कि १९६५ के बाद अंग्रेजी का क्या, कितना और कब तक स्थान रहेगा, इसका निर्णय संसद् की विधि के द्वारा होना चाहिए था न कि राष्ट्रपति के आदेश द्वारा। राष्ट्रपति आने वाली संसद् को इस प्रकार प्रतिबन्धित नहीं कर सकते। साथ ही संसद् का ऐसा निर्णय कुछ दो-चार प्रयोजनों के लिए हो सकता है। सम्पूर्ण राजकाज के क्षेत्र को वह व्याप्त नहीं कर सकता। फिर जिन क्षेत्रों में अंग्रेजी का प्रयोग उस विधान के अंतर्गत हुआ, वहाँ वह एक सहयोगी भाषा के रूप में न होकर प्रमुख भाषा के रूप में व्यवहृत होने लगी।

उस समय प्रधानमंत्री ने 'सहयोगी भाषा' शब्द का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से किया रहा होगा किन्तु राष्ट्रपति के आदेश में, जो कि एक विधान की शक्ति रखता है इस शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए था।

अनुच्छेद ३४४ के अनुसार आयोग और संसदीय समिति के प्रतिवेदन पर विचार कर राष्ट्रपति को विशेषकर निम्न विषयों पर अपना आदेश देना था–

- संघ के राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी भाषा का उत्तरोत्तर अधिक प्रयोग।
- संघ के राजकीय प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए अंग्रेजी भाषा के प्रयोग पर निर्बन्धन।
- अनुच्छेद ३४८ में वर्णित प्रयोजनों में से सब या किसी के लिए प्रयोग किये जाने वाली भाषा एवं
- संघ के किसी एक या अधिक उल्लिखित प्रयोजनों के लिए प्रयोग किये जाने वाले अंकों का रूप।

इन सभी विषयों पर राष्ट्रपति के आदेश ने देश को आगे बढ़ाने के स्थान पर पीछे की ओर खींच दिया। आवश्यकता तो यह थी कि शासन क्षेत्र में हिन्दी के अधिकाधिक एवं उत्तरोत्तर प्रयोग के सम्बन्ध में आदेश दिया जाता किन्तु उसके स्थान पर कहा गया कि "गृह मंत्रालय एक ऐसी योजना के निर्माण और क्रियान्वयन के लिए आवश्यक कार्यवाही करे जिसमें ऐसे पग उठाए जा सकें जो हिन्दी के

उत्तरोत्तर प्रयोग को सुविधाजनक बना दें।" अर्थात् पानी पिलाने के स्थान पर मात्र कुआँ खोदने की योजना बनाने का आदेश दिया गया।

स्पष्ट था कि शासन के सभी क्षेत्रों में अभी अंग्रेजी अबाध रूप से चलती रहेगी। उसके प्रयोग को प्रतिबन्धित करने वाला कोई आदेश नहीं दिया गया। कहा जा सकता है कि जब शासन तैयार ही नहीं तो उसको रोकने वाला कोई आदेश देकर शासन के काम को ठप कर देना व्यावहारिक नहीं होता।

किन्तु कुछ ऐसे क्षेत्र अवश्य हैं, जहाँ हमारे राष्ट्र के स्वतंत्र अस्तित्व एवं हमारे सम्मान का तकाजा है कि हम अंग्रेजी को छोड़कर अपनी राज्य-भाषा का प्रयोग करें।

विदेशों से हमारे जो सम्बन्ध आते हैं, वे हमारी अपनी ही भाषा में होने चाहिए। हमें तो अपने स्वाभाविक राष्ट्रीय स्वाभिमान के कारण अंग्रेजी को इस क्षेत्र से विदा देनी चाहिए।

नागरी अंकों के सम्बन्ध में जो आदेश मिला उसके फलस्वरूप एकरूपता के नाम पर उनको चारों ओर से बहिष्कृत होना पड़ा। राजभाषा-आयोग ने यद्यपि यह स्पष्ट कहा था कि हिन्दी के प्रकाशनों में नागरी के ही अंकों का प्रयोग होना चाहिए; किन्तु शासन ने हिन्दी के इन प्रचलित अंकों को चलने नहीं दिया।

संविधान में अंग्रेजी अंक की उस समय जो सौदेबाजी हुई उसमें हम फँस गये। किन्तु उस आधार में जहाँ न्यायतः नागरी अंक प्रस्तुत हो सकते हैं या होते रहे हैं, वहाँ से भी उनको हटा देना तो ठीक नहीं रहा।

अनुच्छेद ३४८ के अन्तर्गत प्रयोजनों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति का आदेश केवल विधि-मंत्रालय से कानून की पुस्तक का हिन्दी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद करने की सिफारिश करता है। उसे यह भी सलाह दी गयी है कि यथासमय वह न्यायालयों द्वारा हिन्दी एवं अन्य राज्यों की राजभाषाओं में न्यायालयीन निर्णय, आदेश, सम्मन आदि देने के विषय में उपयुक्त विधान पारित कराने की व्यवस्था निर्माण करे।

एक निश्चित आदेश पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में दिया गया है। शिक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत एक स्थायी आयोग नियुक्त किया जाएगा, जो कि पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करेगा। अभी तक इस क्षेत्र में शिक्षा-मंत्रालय एवं विभिन्न राज्यों में जो कार्य हुआ है उस पर पुनर्विचार भी किया जायेगा।

पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में बताया गया है कि उन्हें उनके मूल अन्तर्राष्ट्रीय रूप में ही स्वीकार किया जाये। हाँ, उनके व्युत्पन्न शब्दों को बनाते समय भारतीयकरण अवश्य किया जा सकता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके राष्ट्रपति ने अपने आदेश में भाषा-विज्ञान से असंगत बात का उल्लेख कर दिया है।

यदि मूल शब्द ग्रीक या लैटिन का लिया गया तो विज्ञान और विद्या के क्षेत्र में उनसे निकले हुए शब्द को लेना अनिवार्य हो जायेगा। यदि उनके साथ संस्कृत या हिन्दी के उपसर्ग और प्रत्ययों को जोड़ा गया तो प्रथम तो वह सरल एवं सहज नहीं होगा, दूसरे इस प्रकार का बना हुआ शब्द संस्कृत धातु से बने हुए शब्द से और भी कठिन हो जायगा। राष्ट्रपति ने अपना आदेश संसदीय समिति द्वारा व्यक्त अभिमत के आधार पर दिया है।

दुर्भाग्य का विषय है कि जो प्रश्न भाषा-शास्त्रियों पर छोड़ देना चाहिए था उस पर राजनीतिज्ञ अपना मत देने लगते हैं। राजनीतिज्ञ अपना मत देने लगते हैं। राजनीतिज्ञ भाषा के नाम पर लड़ सकते हैं पर भाषा का सृजन नहीं कर सकते।

राष्ट्रपति ने, जब वे संविधान सभा के अध्यक्ष थे, इस विषय पर विचार किया था। संविधान का हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद करते समय यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। सभी भाषाओं के विद्वानों की एक समिति श्री घनश्याम सिंह गुप्त की अध्यक्षता में बैठी थी। उसने यही निर्णय लिया कि अंग्रेजी शब्दों के स्थान पर संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में बहु प्रचलित शब्दों का ही प्रयोग किया जाय। 'पार्लियामेण्ट' शब्द आज सरल एवं ज्ञेय हो सकता है, किन्तु संविधान में केवल पार्लियामेण्ट शब्द के प्रयोग मात्र से काम नहीं चलता। यहाँ तो उसके साथ और भी व्युत्पन्न शब्द लाने पड़ेंगे। उसका भारतीयकरण करने का यदि प्रयास किया गया तो शिवजी की बारात बन जायगी, भाषा नहीं।

संविधान सभा ने भी हिन्दी के भावी स्वरूप का विचार करते समय अनुच्छेद ३५१ में यही कहा है कि "वह अपने शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः अन्य भाषाओं से (अष्टम सूची में वर्णित जिनमें अंग्रेजी नहीं है) शब्द ग्रहण करें।" संस्कृत धातु से बना हुआ शब्द आज चाहे कुछ अनजान सा और कठिन प्रतीत हो किन्तु थोड़े ही दिनों में यह स्पष्ट हो जायगा कि वह शब्द हमारे लिए अधिक सुलभ एवं प्रमाणित दृष्टि से सूक्ष्म एवं यथार्थ भाव को व्यक्त करने वाला होगा।

संस्कृतनिष्ठ पारिभाषिक शब्दावली न केवल भारत के लिए अपितु सम्पूर्ण

दक्षिण एवं पूर्व-एशिया के लिए काम दे सकेगी; तथा आने वाली शब्दावली में वही अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली बन सकेगी।

संविधान ने राजभाषा के विषय में राष्ट्रपति पर केन्द्र-शासन से अलग उत्तरदायित्व डाला है; उन्हें उसका निर्वाह करना चाहिए। सत्य तो यह है कि अब तक राष्ट्रपति ने व्यक्तिगत रूप से अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं किया और १९६५ के बाद भी हम एक पग आगे नहीं बढ़ पाये।

वास्तव में देश में हिन्दी का कहीं विरोध नहीं है। हाँ यदि शासन की नीतियों के कारण अहिन्दी भाषियों को हिन्दी सीखने और उसमें पटुता प्राप्त करने की सुविधा और अवसर नहीं मिला तो वे अपने भविष्य के सम्बन्ध में आशंकित अवश्य हैं। उनकी आशंकाओं को दूर करने के लिए ऐसी व्यवस्था करना है, जिससे अहिन्दी प्रान्तों के बच्चे भी हिन्दी सीख सकें।

आज डॉ. राममनोहर लोहिया और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी में इस प्रश्न पर जमीन-आसमान का अन्तर दिखाई देता है किन्तु उनके मूल में यदि जायें तो शासन की निष्क्रियता के कारण हिन्दी के योग्य प्रसार और विकास का अभाव ही है। उसके कारण ही राजाजी को लगा कि १९६५ में हिन्दी आ गई तो सभी तमिल वाले हिन्दी ज्ञान के अभाव में नौकरियों से वंचित हो जायेंगे।

हिन्दी के प्रश्न पर जबकि बहुतांश एकमत है, शासन की नीति के कारण ही विवाद खड़ा हो गया है। आज तक शासन ने पारिभाषिक शब्द क्यों नहीं बनाए ? क्या राजाजी ने उसको रोका था ? उन्होंने टंकन के मापक पटल क्यों नहीं सुधारे ? उसमें किस हिन्दी-विरोधी ने बाधा डाली थी ? बाधा हिन्दी-विरोधियों की नहीं, शासन की उपेक्षा, टालमटोल एवं उदासीनता की नीति ही है।

राष्ट्रपति के आदेश के उपरान्त भी उस नीति में परिवर्तन के कोई लक्षण नहीं आये अपितु वही नीति चलती रही। उसका ही परिचय उस आदेश से मिला था।

☆

अखण्ड भारत : साध्य और साधन

भारतीय जनसंघ ने अपने सम्मुख अखण्ड भारत का ध्येय रखा है। अखण्ड भारत देश की भौगोलिक एकता का ही परिचायक नहीं अपितु जीवन के भारतीय दृष्टिकोण का द्योतक है जो अनेकता में एकता के दर्शन करता है। अतः हमारे लिए अखण्ड भारत कोई राजनैतिक नारा नहीं है जो परिस्थिति विशेष में जनप्रिय होने के कारण हमने स्वीकार किया हो बल्कि यह तो हमारे सम्पूर्ण दर्शन का मूलाधार है। १५ अगस्त १९४७ को भारत की एकता के खण्डित होने तथा धन की अपार हानि होने के कारण लोगों को अखण्डता के अभाव का प्रत्यक्ष परिणाम देखना पड़ा और इसलिए आज भारत को पुनः एक करने की भूख प्रबल हो गयी है किन्तु यदि हम युगों-युगों से चली आयी जीवनधारा के अन्तःप्रवाह को देखने का प्रयत्न करें तो हमें पता चलेगा कि हमारी राष्ट्रीय चेतना सदैव ही अखण्डता के लिए प्रयत्नशील रही है तथा इस प्रयत्न में हम बहुत कुछ सफल भी हुए हैं।

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यस्य संततिः।।

इस रूप में जब हमारे पुराणकारों ने भारतवर्ष की व्याख्या की तो वह केवल भूमिपरक ही नहीं अपितु जनपरक और संस्कृतिपरक भी थी। हमने भूमि, जन और संस्कृति को एक दूसरे से भिन्न नहीं किया अपितु उनकी एकात्मता की अनुभूति के द्वारा राष्ट्र का साक्षात्कार किया। राष्ट्रीय और एकतात्मक संस्कृति की जो आधारभूत मान्यताएँ जनसंघ ने स्वीकार की हैं, उन सबका समावेश 'अखण्ड भारत' शब्द के अन्तर्गत हो जाता है। अटक से कटक, कच्छ से कामरूप तथा कश्मीर से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भूमि के कण-कण को पुण्य और पवित्र ही नहीं अपितु आत्मीय मानने की भावना अखण्ड भारत के अन्दर अभिप्रेत है। इस पुण्य भूमि पर अनादि काल से जो प्रजा उत्पन्न हुई तथा आज जो है, उनमें

स्थान और काल के क्रम से ऊपरी भिन्नताएँ चाहे जितनी रही हों किन्तु उनमें सम्पूर्ण जीवन में मूलभूत एकता का दर्शन प्रत्येक अखण्ड भारत का पुजारी करता है। अतः सभी राष्ट्रवादियों के सम्बन्ध में उसके मन में आत्मीयता एवं उससे उत्पन्न पारस्परिक श्रद्धा और विश्वास का भाव रहता है। वह उनके सुख-दुःख में सहानुभूति रखता है। इस अखण्ड भारतमाता की कोख में उत्पन्न सपूतों ने अपने क्रिया-कलापों से विविध क्षेत्रों में जो कुछ निर्माण किया उसमें भी एकता का सूत्र रहा है। हमारी धर्म-नीति, अर्थ-नीति और राजनीति, हमारे साहित्य, कला और दर्शन, हमारे इतिहास, पुराण और उपनिषद्, हमारी स्मृतियाँ और विधान सभी में देवपूजा के विभिन्न व्यवधानों के अनुसार बाह्य भिन्नताएँ होते हुए भी भक्त की भावना एक रही है। हमारी संस्कृति की एकता का दर्शन अखण्ड भारत के पुरस्कर्ता के लिए आवश्यक है।

सम्पूर्ण जीवन की एकता की अनुभूति तथा उस अनुभूति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के रचनात्मक प्रयत्न का ही नाम इतिहास है। गुलामी हमारी एकत्वानुभूति में सबसे बड़ी बाधा थी। फलतः हम उसके विरुद्ध भिड़े। स्वराज्य प्राप्ति इस अनुभूति में सहायक होनी चाहिए थी। वह नहीं हुई, इसीलिए हम खिन्न हैं। आज हमारे जीवन में विरोधी भावनाओं का संघर्ष हो रहा है। हमारे राष्ट्र की प्रकृति है "अखण्ड भारत"। खण्डित भारत विकृति है। आज हम विकृति में आनन्दानुभूति का धोखा खाना चाहते हैं किन्तु आनन्द मिलता नहीं। यदि हम सत्य को स्वीकार करें तो हमारा अन्तःसंघर्ष दूर होकर हमारे प्रयत्नों में एकता और बल आ सकेगा।

कई लोगों के मन में शंका होती है कि अखण्ड भारत सिद्ध भी होगा या नहीं। उनकी शंका पराभूत मनोवृत्ति का परिणाम है। पिछली अर्ध-शताब्दी के इतिहास तथा हमारे प्रयत्नों की असफलता से वे इतने दब गये हैं कि उनमें उठने की हिम्मत ही नहीं रह गयी। उन्होंने १९४७ में अपने एकता के प्रयत्नों की पराजय तथा पृथकतवादी नीति की विजय देखी। उसकी हिम्मत टूट गयी और अब वे उस पराजय को ही स्थायी बनाना चाहते हैं, किन्तु यह संभव नहीं। वे राष्ट्र की प्रकृति के प्रतिकूल नहीं चल सकते। प्रतिकूल चलने का परिणाम आत्मघात होगा। गत वर्षों की कष्ट-परम्परा का यही कारण है।

१९४७ की पराजय भारतीय एकतानुभूति की पराजय नहीं अपितु उन

प्रयत्नों की पराजय है जो राष्ट्रीय एकता के नाम पर किये गये। हम असफल इसलिए नहीं हुए कि हमारा उद्देश्य गलत था बल्कि इसलिए कि मार्ग गलत चुना। सदोष साधन के कारण साध्य की सिद्धि न होने पर साध्य न तो त्याज्य ही ठहराया जा सकता है और न अव्यावहारिक ही। आज भी अखण्ड भारत की व्यावहारिकता में उन्हीं को शंका उठती है, जिन्होंने उन दोषयुक्त साधनों को अपनाया तथा जो आज भी उनको छोड़ना नहीं चाहते।

अखण्ड भारत के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मुस्लिम सम्प्रदाय की पृथकतावादी एवं अराष्ट्रीय मनोवृत्ति रही है। पाकिस्तान की सृष्टि उस मनोवृत्ति की विजय है। अखण्ड भारत के सम्बन्ध में शंकाशील यह मानकर चलते हैं कि मुसलमान अपनी नीति में परिवर्तन नहीं करेगा। यदि उनकी धारणा सत्य है तो फिर भारत में ६ करोड़ मुसलमानों को बनाये रखना राष्ट्रहित के लिए बड़ा संकट होगा। क्या कोई कांग्रेसी यह कहेगा कि मुसलमानों को भारत से खदेड़ दिया जाय ? यदि नहीं तो उन्हें भारतीय जीवन के साथ समरस करना पड़ेगा। यदि भौगोलिक दृष्टि से खंडित भारत में यह अनुभूति संभव है तो शेष भू-भाग को मिलते देर नहीं लगेगी। एकता की अनुभूति के अभाव से यदि देश खण्डित हुआ है तो उसके भाव से वह अखण्ड होगा। हम उसी के लिए प्रयत्न करें। मुसलमानों को भारतीय बनाने के लिए हमें अपनी गत अर्द्ध शताब्दी पुरानी नीति बदलनी पड़ेगी। कांग्रेस ने हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के प्रयत्न गलत आधार पर किये। उसने राष्ट्र की और संस्कृति की सही एवं अनादि से चली आने वाली एकता का साक्षात्कार करने तथा सभी को उसका साक्षात्कार कराने के स्थान पर अनेकता का ही साक्षात्कार किया तथा अनेकों को कृत्रिम तथा राजनीतिक सौदेबाजी के आधार पर एक करने का प्रयत्न किया। भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाजों सभी की कृत्रिम ढंग से रचना की। ये प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकते थे। राष्ट्रीयता और अराष्ट्रीयता का समन्वय संभव नहीं।

यदि हम एकता चाहते हैं तो भारतीय राष्ट्रीयता जो हिन्दू राष्ट्रीयता है तथा भारतीय संस्कृति जो हिन्दू संस्कृति है, उसका दर्शन करें। उसे मानदण्ड बनाकर चलें। भागीरथी की इस पुण्य धारा में सभी प्रवाहों का संगम होने दें। यमुना भी मिलेगी और अपनी सभी कालिमा खोकर गंगा की धवल धारा में एकरूप हो जायेगी। किन्तु इसके लिए भगीरथ के प्रयत्नों की निष्ठा एवं "एकं सद् विप्राः

बहुधा वदन्ति" की मान्यता लेकर हमने संस्कृति और राष्ट्र की एकता का जो अनुभव किया है वह हजारों वर्षों की असफलता से अधिक है। अतः हमें हिम्मत हारने की जरूरत नहीं। यदि पिछले सिपाही थक गये हैं तो नये आगे आयेंगे। पिछलों को अपनी थकान को हिम्मत से मान लेना चाहिए, अपने अस्त्रों की कमजोरी स्वीकार कर लेनी चाहिए। लड़ाई जीतेंगे ही नहीं यह कहना ठीक नहीं। यह तो हमारी आन-बान और शान के खिलाफ है, राष्ट्र की प्रकृति और परम्परा के भी प्रतिकूल है।

☆

राष्ट्रीयता का पुण्य प्रवाह

हमारे राष्ट्रजीवन का भागीरथी प्रवाह आदि काल से चला आ रहा है। पुण्यसलिला गंगा का वैसे तो एक-एक जलकण पवित्र है तथा उनमें किसी भी स्थान का अवगाहन मुक्तिप्रद है तथापि कुछ स्थानों को विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया है। हिमालय की गोद को छोड़कर भारत भूमि पर ललकते हुए घुटनों चलने वाली गंगा हरिद्वार में अपना निराला ही महत्त्व रखती है। यमुना जब काला-काला कालकूट लाकर शिवस्वामिनी को देती है तो वह शिव ही की भाँति सहर्ष जहाँ उसका पान कर जाती है वह प्रयाग तो तीर्थराज ही हो गया है। इसी भाँति राष्ट्रत्व के प्रवाह का कण-कण पवित्र है। किसी भी स्थान अथवा काल का विचार चित्त को निर्मल करके राष्ट्रभक्ति से परिपूर्ण कर देता है किन्तु जिस काल में तीर्थस्वरूप महापुरुषों का आविर्भाव हुआ है उसका महत्त्व हमारे जातीय जीवन में और भी अधिक है। तीर्थों का महत्त्व चाहे गंगा के तट पर अवस्थित होने के कारण ही क्यों न हो किन्तु वहाँ की यात्रा प्रत्येक भक्त के जीवन की अभिलाषा रहती है। महापुरुषों के जीवन और यश की स्मृति, जनसाधारण के चित्त पर उनका प्रभाव और जातीय चरित्रगठन में उनके द्वारा प्रवर्त्तित आदर्शों की अनुप्राणना राष्ट्र के लिए अमूल्य सम्पत्ति और शक्ति का झरना है। उनका चिन्तन, विचार और आलोचना जाति में नित्य नवीन उद्दीपना, उत्साह और सजीवता उत्पन्न करती है। इन पुण्यस्थलों पर जीवनदायिनी जातीय जाह्नवी में अवगाहन को किसका मन नहीं चाहेगा ? और फिर श्रीमच्छंकराचार्य की स्थिति तो तीर्थराज प्रयाग के समान है, यदि वहाँ भक्तों की भीड़ लग जाय तो कौन आश्चर्य ?

हमारे राष्ट्रनिर्माताओं में श्रीमच्छंकराचार्य का स्थान बहुत ऊँचा है। कई विद्वानों ने तो उनको आधुनिक हिन्दू धर्म का जनक ही कहा है। मन्दिर में मूर्त्ति की स्थापना और प्राण-प्रतिष्ठा करने वाले आचार्य को ही यद्यपि कई बार मन्दिर का निर्माता कहा जाता है तो भी अपनी छेनी और हथौड़े की एक-एक चोट से मूर्त्ति को

स्वरूप देने वाले शिल्पी तथा मन्दिर को बनाने वाले अनेकानेक राज और कारीगरों को भी नहीं भुलाया जा सकता। उस सम्पूर्ण जन-समुदाय के परिश्रमों को भुलाना कृतघ्नता ही नहीं अपितु सामाजिक जीवन के विधायक नियमों की अनभिज्ञता भी प्रकट करना है। राष्ट्र का जीवन एक दिन में अथवा दो-चार वर्षों में नहीं बना-बिगड़ा करता और न कोई महापुरुष ही राष्ट्रजीवन के संस्कारों से पूर्णतः निर्लिप्त होकर अपनी मानसिक, आध्यात्मिक अथवा शारीरिक शक्तियों का विकास करके राष्ट्रजीवन का निर्माण कर सकता है। महापुरुष तो जातीय साधना के विग्रह स्वरूप हैं। वे तो समाज में वर्षों से होने वाली विचार-क्रान्ति का दृष्ट फल होते हैं। उनकी अलौकिक शक्ति और ऐश्वर्य, सर्वमुखी प्रतिभा, अखण्ड कर्ममय जीवन तथा सर्वव्यापी प्रभाव को देखकर हमारी आँखें इतनी चौंधिया जाती हैं कि हम उस महापुरुष को उत्पन्न करने वाली जीवनधारा को बिलकुल ही भूल जाते हैं। जिस समाज में वह उत्पन्न होता है उसका कुछ विचार ही नहीं करते। ज्वालामुखी के विस्फोट को देखकर धीरे-धीरे रिसते हुए पानी की ओर ध्यान नहीं जाता। प्रस्फुटित पुष्प के सौरभ में वृक्ष का विस्मरण हो जाता है। शायद इस वृत्ति की ओट में हमारा व्यक्तिगत स्वार्थ छिपा हो, क्योंकि किसी महापुरुष को समाज को पूर्णतः बनाने-बिगाड़ने वाला मानकर स्वयं हम समाजकार्य की जिम्मेदारी से मुक्त हो जाते हैं। वास्तव में तो महापुरुष व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को अनुप्राणित करता हुआ कार्य की जो शक्ति और प्रेरणा देता है वह स्वयं समाज के सामूहिक प्रयत्नों से पहले ही ग्रहण कर चुका होता है। जातीय प्राणों की यही आभ्यन्तरिक जीवित साधना धारा का स्वरूप भिन्न-भिन्न युगों में विशेष महापुरुषों की साधना और सिद्धि के द्वारा युगोचित आकार और वेषभूषा से सुसज्जित होकर प्रकट होता है। अतः किसी भी महापुरुष को समझने के पूर्व जातीय जीवन की इस साधना के स्वरूप को समझना आवश्यक होगा। युगपुरुष श्रीमच्छंकराचार्य का महत्त्व भी उस युग की प्रवृत्तियों का ज्ञान करके ही समझा जा सकेगा।

जनसाधारण स्वामी शंकराचार्य को बौद्ध धर्म के विनाशक तथा हिन्दू धर्म के संस्थापक के रूप में देखता है तो कई विद्वानों को उनमें 'प्रच्छन्न बौद्ध' दृष्टिगोचर होता है। सत्यांश दोनों ही चित्रों के पीछे है क्योंकि उनके युग की सम्पूर्ण सहस्राब्दी का इतिहास केन्द्रापगामी बौद्ध धर्म तथा केन्द्राभिमुखी हिन्दू धर्म के पारस्परिक संघर्ष तथा समन्वय का इतिहास है। अतः हमको बौद्ध धर्म के जन्म से लेकर स्वामी शंकराचार्य के काल तक बौद्धधर्म के विकास और प्रवृत्तियों का तथा साथ ही साथ हिन्दूधर्म की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करना होगा।

जिस समय महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ उस समय वैदिक कर्म-काण्ड के विरुद्ध विद्रोह का सूत्रपात् हो चुका था। कर्मकाण्ड इतना बढ़ गया था कि लोग अपने हृदय की सद्वृत्तियों के विकास के स्थान पर केवल यज्ञ-यागादि को ही महत्त्व देते थे, आत्मा की उन्नति के स्थान पर बाह्योपचारों एवं कर्मकाण्ड की ओर ही ध्यान था तथा विश्वास था कि इसी के सहारे हमें स्वर्ग प्राप्त हो जायेगा। परिणामस्वरूप स्वर्णपात्र में विष भरा जाने लगा। बाह्यतः धार्मिक पण्डितों के मन में भी जघन्य वृत्तियों का समावेश होने लगा। दया, शान्ति, अक्रोध और अहिंसा का स्थान क्रूरता, क्रोध और हिंसा ने ले लिया। क्षमा कायरता का चिह्न समझी जाने लगी। सामाजिक विभेद बढ़ने लगे, एक वर्ण दूसरे वर्ण से द्वेष करने लगा। त्यागहीन, वृत्तिहीन तथा पतित विचारों से पूर्ण ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता का दावा करते थे; समाज का नेतृत्व अपनी बपौती समझ बैठे थे। उधर क्षत्रिय ढोल में पोल देखकर उसका उच्च स्वर सुनकर उसकी प्रभुता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। फलतः चारों ओर घृणा और द्वेष का साम्राज्य था। आत्म-प्रवंचना का सबके ऊपर अधिकार था। समाज की जब ऐसी स्थिति रहती है तब उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है। ऐसे समय में शरीर के मुटापे को दूर करके उसकी जीवनशक्ति बढ़ानी पड़ती है। महात्मा बुद्ध के पूर्व ही विचारों में यह क्षोभ पैदा हो चुका था। उपनिषदों में विद्रोह का क्षीण स्वर सुनाई देता है; किन्तु भागवत् धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के रूप में यह विद्रोह हमको स्पष्ट और निश्चित स्वरूप धारण किये हुए मिलता है।

भागवत धर्म का विद्रोह हलका था। उसने विद्रोह की लहर में तथा भावना के आवेश में आकर जो कुछ सामने आया उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया; रोग के साथ रोगी के प्राण लेने पर उतारू नहीं हुआ। उसने कर्मकाण्ड का विरोध किया, समाज व्यवस्था में रूढ़िवाद का विरोध किया किन्तु अपनी पूर्व परम्पराओं, धर्म ग्रन्थों तथा समाज व्यवस्था के आधार को किस भी प्रकार का धक्का नहीं लगाया। भागवत्धर्मी भगवान् कृष्ण ने जहाँ वैदिक इन्द्र आदि देवताओं की पूजा-अर्चा बन्द करके गोवर्द्धनपूजा की पद्धति चलायी वहाँ वेदों तथा वैदिक व्यवस्था के प्रति पूर्ण आदर की भावना भी दिखाई है। जीवन में यज्ञयागादि का विरोध करते हुए भी युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया तथा स्वयं उसमें प्रमुख स्थान ग्रहण किया। भागवत् धर्म का विरोध बुराई से था न कि सम्पूर्ण व्यवस्था से ही; किन्तु बौद्ध धर्म का विरोध यहीं तक सीमित नहीं रहा। गेहूँ में कुछ कंकड़ दिखने पर उन्होंने सब अनाज ही फेंक दिया। कर्मकाण्ड में हिंसा देखकर उन्होंने

केवल कर्मकाण्ड का ही विरोध नहीं किया अपितु वेद और ब्राह्मणों को ही सब पापों की जड़ समझकर उनकी सत्ता ही निर्मूल कर दी। प्राचीन चली आने वाली पद्धतियों को पूर्णतः त्याग दिया। उन्होंने अपना प्रचार संस्कृत के स्थान पर पाली में किया। वर्ण-व्यवस्था को ठुकरा दिया तथा इस प्रकार वैदिक परम्परा तथा व्यवस्था से अपने सम्बन्ध का पूर्णतः विच्छेद कर लिया।

वैदिक धर्म में परिवर्तन तो सदैव ही होते आये हैं। यह धर्म तो गतिशील है, गंगा के समान चैतन्ययुक्त है, जीवित है; जोहड़ के जल के समान स्थिर, जड़ एवं मृत नहीं। धर्म में सदैव ही नवीन विचारों का आगमन होता रहा है तथा पुरानों में परिवर्तन एवं विकास होता रहा है, किन्तु प्रत्येक नवीन परिवर्तन प्राचीन से संबंधित रहा। प्रत्येक नवीन आन्दोलनकारी ने अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा का भाव रखा। प्रत्येक नवीन सुधारक अपनी प्राचीन परम्परा को मानने वाले रहे, अपने पूर्वजों तथा उनकी कृतियों का सम्मान करते रहे तथा समय के साथ नवीन विचारों के प्रवर्त्तक भी बने। मूल से सम्बन्ध होने के कारण उनके नवीन विचारों से राष्ट्रजीवन को किसी भी प्रकार का धक्का नहीं लगा, हाँ उसमें विकास अवश्य होता रहा। अनादि काल से चली आयी राष्ट्रीय परम्परा को तोड़ने का प्रयत्न अभी तक किसी ने नहीं किया था। किन्तु महात्मा बुद्ध ने और उनसे भी अधिक उनके अनुयायियों ने अपनी प्राचीन परम्परा से बिल्कुल सम्बन्ध विच्छेद ही कर लिया। अनन्त ज्ञान के आगार वेदों से अपने मत की पुष्टि करने के स्थान पर उन्होंने वेदों को अपनी धार्मिक व्यवस्था में कोई स्थान ही नहीं दिया। ईश्वर तथा वेदों के प्रति महात्मा बुद्ध का यह उदासीनता का भाव उनके अनुयायियों में विरोध के रूप में परिवर्तित हो गया। यहाँ तक कि हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म एक दूसरे के विरोधी हो गये।*

---

* "बुद्ध तक हमारा धार्मिक विचार धीरे-धीरे बिना किसी उलट-फेर के ऐसा विकसित होता आया था कि नवागत विचारों की नवीनता पर देश का ध्यान ही नहीं गया। हमारा धार्मिक अंकुर धीरे-धीरे बढ़ता हुआ गगनावलम्बी वृक्ष हो गया था; किन्तु प्रत्येक नये आचार्य ने नवीन विचारों का प्राचीनता के साथ ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण किया था कि यह कोई न देख पाया कि यह अंकुर किस समय और कैसे-कैसे गगनावलम्बी वृक्ष बन गया। महात्मा बुद्ध ने उसकी टेढ़ी शाखा तथा पल्लवों की ऐसी शीघ्रता से काट-छाँट की और धार्मिक संसार में ऐसी भारी खलबली मचा दी मानो जादू के जोर से एक दूसरा वृक्ष खड़ा कर दिया। ऐसी दशा में उनके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ जाना स्वाभाविक था तथा हुआ भी ऐसा ही। इसलिए यह धर्म भी व्यक्तित्व प्रधान हो गया।

धरती पर वृक्ष लगाकर उसके अन्दर से पोषण तत्त्व प्राप्त करते हुए वृक्ष बढ़े, इसके स्थान पर उन्होंने अलग गमले में वृक्ष लगाया। गमले में लगा वृक्ष होने के कारण जहाँ यह सुविधा थी कि इसको देशान्तर में चाहे जहाँ ले जाओ वहाँ इसकी वृद्धि भी रुक गयी। घास के समान व्यापक होकर भी यह वटवृक्ष के समान विशाल न हो पाया। भारत की सम्पूर्ण परम्पराओं तथा वैदिक धर्म एवं भागवत् धर्म का सम्बन्ध भारत की भूमि, पर्वत, नदी, वन आदि से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है। बौद्ध धर्म ने जहाँ प्राचीन परम्पराओं का विनाश किया वहाँ इन परम्पराओं को मानने वाले पूर्वजों से भी अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। उनसे पूर्व के महर्षि, राम-कृष्ण का उनके जीवन में कोई महत्त्व नहीं रह गया। अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में जिनके मन में अश्रद्धा का भाव उत्पन्न हो गया हो, तथा अपनी भूमि के सम्बन्ध में जहाँ कोई महत्त्व नहीं रह गया हो, वहाँ अराष्ट्रीय भावों का उद्‌गम स्वाभाविक ही है। अपनेपन का यह भाव लेकर जब बौद्धधर्म देश-देशान्तर गया तो जहाँ एक ओर उनको उसने ज्ञान की शिक्षा दी वहाँ उनकी बहुत सी बातें अपनायीं। इतना ही नहीं वह धीरे-धीरे अपने देशवासियों की अपेक्षा धर्म-बांधवों को अपने अधिक निकट समझने लगा। विदेशी आक्रमणकारियों ने भी उसकी इस अराष्ट्रीय वृत्ति का लाभ उठाया। उनमें से बहुतों ने बौद्धधर्म को अपनाया तथा बौद्धों ने भी देश की स्वतंत्रता का अपहरण करने वाले इन धर्मबन्धुओं को अपनाया, 'उन दिनों बौद्धधर्म मानो एक अत्याचारी वर्ग का पोष्य पुत्र बना हुआ था; और जब उस वर्ग के अत्याचारों का निर्मूलन हुआ तब उसके साथ उस धर्म का भी अवश्य पतन हुआ। बौद्ध धर्म उस समय राष्ट्रीयता के उच्च तल से पतित हो चुका था और उसने अहिन्दू स्वरूप धारण कर लिया था।'

ऐसी दशा में बौद्धधर्म का उन्मूलन एक राष्ट्रीय कर्त्तव्य हो गया। एक के बाद एक महापुरुष उत्पन्न हुए और भारत से इस अराष्ट्रीय प्रवृति को नष्ट करने के लिए जुट पड़े। इनमें कुमारिल भट्ट और शंकर का नाम तो सभी जानते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे सन्त-महन्त, ऋषि-महर्षि हुए हैं, जिन्होंने इस राष्ट्र-कार्य में हाथ बँटाया। आज चाहे हम उनके नामों को न जानते हों, उनका गुणगान न करते हों, परन्तु हमारे हृदय की राष्ट्रभक्ति की भावना अनजान में चुपके से उन पर श्रद्धा के दो फूल अवश्य चढ़ा देती है। उन्मूलन के इन प्रयत्नों में हमारी भी जो विशेषता रही है, वह है हमारी भावात्मक कल्पना तथा रचनात्मक कार्यक्रम की योजना। हमारे महापुरुषों ने प्रतिक्रियात्मक अथवा विरोधात्मक एवं विनाशात्मक

दृष्टिकोण लेकर बौद्ध धर्म का उच्छेद नहीं किया, यदि ऐसा किया होता तो न उन्हें सफलता ही मिलती और न भारत के वांछित जीवन की ही सृष्टि होती। विनाशात्मक भावना से कार्य करने पर राष्ट्र के गतिमय जीवन में स्तब्धता तथा अभाव की सृष्टि होती। जीवन में एक शून्यता का आविर्भाव होता जो कि मृत्यु की जननी होती। इसके स्थान पर अपने रचनात्मक कार्यक्रम के कारण उन्होंने अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों का विनाश ही नहीं किया अपितु उसका स्थान भी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों ने ले लिया। इसीलिए इस युग में हमको बौद्ध धर्म को नष्ट करने के इतने प्रयत्न नहीं दिखाई देते जितने कि अपने परम्परा प्राप्त राष्ट्रीय वैदिक धर्म को पुष्ट और व्यापक करने के दिखाई देते हैं। राष्ट्रीयता के प्रखर प्रकाश को चतुर्दिक् प्रसृत करने के प्रयत्न हुए, बस, अराष्ट्रवृत्ति का अन्धकार स्वयमेव विलीन हो गया। इस ज्वाला के प्रकाश को प्रखरतम बनाने के लिए साधु-संन्यासी, कवि-कलाकार, पुराणकार सूत और स्मृतिकार मुनि, दर्शनों के जन्मदाता ऋषि-महर्षि और भक्ति की सौन्दर्यमयी सरस धारा प्रवाहित करने वाले सन्त-महन्त, पुनः अश्वमेध करके भारत में चातुरंग साम्राज्य निर्माण करने वाले दिग्विजयी सम्राट् और भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता को राजनीति के कलेवर से पुष्ट करने वाले राजनीतिज्ञ, नीतिकार, शिल्पी और वाणिज्य व्यवसायी सब में मानों एक होड़ लग गयी थी। सबके सब अहमहमिका वृत्ति से आगे दौड़ पड़ते और राष्ट्र की इस वृद्धिंगत शक्ति को जीवन-सर्वस्व अर्पित करने के लिए लालायित दिखाई देते हैं। यह राष्ट्रीयता की भावना केवल थोड़े से तत्वज्ञ एवं विचारवान् लोगों तक ही सीमित नहीं थी अपितु सम्पूर्ण जन-साधारण इस भावना से ओत-प्रोत दिखाई देता था और इसीलिए इस युग में हमको एक अपूर्व कर्मचेतना भी दृष्टिगोचर होती है।

यह व्यापक कर्मचेतना महात्मा बुद्ध से लेकर स्वामी शंकराचार्य के सम्पूर्ण युग में पायी जाती है। एक ओर तो महात्मा बुद्ध ने सोई हुई जनता को जगाकर जो असाधारण विचार-क्रान्ति उत्पन्न की, उसके परिणास्वरूप तथा दूसरी ओर वैदिक धर्म के संघर्ष और समन्वय के परिणामस्वरूप इस युग में जैसी कर्मचेतना जागृत हुई वैसी व्यापक प्रभाव करने वाली कर्मचेतना राष्ट्रों के जीवन में यदा-कदा ही मिलती है। इस युग का जीवन स्थिर एवं गतिहीन नहीं है अपितु वह सतत गतिशील है, उसमें जीवन की प्रेरक शक्ति कार्य करती हुई दिखाई देती है। इस समय प्रत्येक के लिए द्वार खुला था, विस्तीर्ण कार्यक्षेत्र सामने पड़ा था। बांध टूट जाने पर जैसे पानी चारों ओर फैल जाता है वैसे ही भारतीय चारों ओर बढ़ने लगे।

प्रत्येक क्षेत्र में विकास की चरम सीमा को चूमने की महती आकांक्षा जागृत हो गयी। वर्षों से प्यासी भूमि जैसे वर्षा होते ही चारों ओर हरी-भरी दिखाई देने लगती है वैसे ही जनसमाज की अतृप्त आत्मा भी तृप्त होकर अनेक धाराओं में फूट पड़ी। धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में हम लोग आगे बढ़े। साहित्य और कला दोनों में ही वह धारा फूट पड़ी कि सम्पूर्ण भारत को आप्लावित कर दिया। इसी काल में मनुष्यमात्र को दुःखों से निवृत्ति पाने का सत्य मार्ग बताने की अमिट चाह लेकर हमारे धर्म-प्रचारक देश-विदेश में फैल गये तथा दुनिया के दूर से दूर कोने में भी भारत की विजय-पताका फहराई। जावा, सुमात्रा, बाली, स्याम, हिंदचीन, चीन, जापान, बलख, बुखारा, मिस्र, यूनान और रोम चारों ओर ज्ञानदीप लेकर अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हुए मनुष्य के हृदय में आशा की ज्योति जगायी। एक ओर जहाँ यह सांस्कृतिक साम्राज्य विस्तीर्ण हो रहा था, दूसरी ओर हमारे दिग्विजयी सम्राटों ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये। समुद्र के पार जाकर अपने उपनिवेश बसाये तथा वृहत्तर भारत की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक कल्पना को स्थूल आधिभौतिक स्वरूप प्रदान किया। हमारे व्यापारियों ने दूर-दूर देशों से व्यापार करके भारत को स्वर्ण से पाट दिया। भारत की श्री और वैभव का, सुख और शान्ति का वह युग था। इतिहासकार इस युग को भारत का स्वर्ण-युग कहते हैं।

हम इस काल को भारत का स्वर्ण-युग उस समय के बड़े-बड़े साम्राज्य, अपार धनराशि, अतुल वैभव, मनोरम कला तथा उच्च साहित्य के कारण नहीं कहते। आज उनमें से कुछ भी हमारे पास नहीं है। बड़े-बड़े साम्राज्य नष्ट हो गये, वह अपार धनराशि ढह गयी, वैभव विलीन हो गया तथा कला और साहित्य कुछ विद्वानों की खोज एवं मनोरंजन की सामग्री मात्र रह गयी है। उस युग की अक्षय देन तो है हमारी एक-राष्ट्रीयता की भावना, भारत के एकत्व तथा अखण्डत्व की कल्पना तथा उस भावना को मूर्त स्वरूप देने वाली संस्थाओं की स्थापना और उसको चिरन्तन बनाये रखने वाले संस्कारों की योजना। वैसे तो हमारी राष्ट्र की कल्पना वैदिक काल से चली आ रही है और जब अन्तःप्रकृति का बाह्य प्रकृति पर प्रक्षेप करते हुए अपने हृदय की अव्यक्त श्रद्धा को व्यक्त करने के लिए ऋषि गा उठता है :-

'इमे मे गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या
असिवन्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये श्रुणुह्या सुखोमया।।

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।

तब उस राष्ट्र भक्ति की कल्पना को एक स्थूल स्वरूप मिल जाता है; राष्ट्र की आत्मा का आधार स्वरूप मातृभूमि का चित्र आँखों के सम्मुख आ जाता है। बौद्ध धर्म के प्रसार से इस राष्ट्रत्व की कल्पना को एक ठेस लगी। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दू धर्म तथा हिन्दूराष्ट्र नष्ट हो जायेगा। किन्तु पाताल तक जड़ें पहुँचने के कारण अक्षयवट जिस भाँति बार-बार काटने पर भी हरा हो उठता है उसी भाँति वैदिक धर्म के वटवृक्ष को भी कई बार काट कर फेंका गया किन्तु यह फिर हरा हो गया क्योंकि इसकी जड़ें भारतवर्ष की भूमि में गहरी जमी हुई हैं; कितनी गहरी, यह आज तक कोई पता नहीं लगा पाया है। बीच में बाँध लगाने से गंगा का प्रवाह रुक नहीं सकता क्योंकि गंगोत्री से तो सतत धारा बहती ही रहती है। बड़े से बड़ा बाँध बाँधने पर मालूम होगा कि मानों पुण्यसलिला भागीरथी को रोक दिया गया है, अब वह सागर तक नहीं पहुँच पायेगी किन्तु थोड़े ही दिनों में भूल मालूम हो जाती है। अनन्त स्रोतस्विनी जाह्नवी बाँध को नष्ट-भ्रष्ट करती हुई आगे बढ़ जाती है; अपना मार्ग पूर्ण करके ही रहती है और गंगा के स्रोत कहाँ और कितने हैं ? यह आज तक कोई पता नहीं लगा पाया है। बस उसी भाँति हिन्दू धर्म तथा हिन्दू राष्ट्रत्व की प्रगति को भी कई बार रोकने का प्रयत्न किया गया परन्तु हर बार यह रोकने वालों को ही लेकर आगे बढ़ा है। जैसे कि गंगा बन्ध को नष्ट करके भी अपने अंक में तो आश्रय देती ही है, उसके बहुत से पत्थर भी थोड़े ही दिनों में पापनाशिनी के जलकणों से टकराते-टकराते अपना नुकीलापन नष्ट करके शालिग्राम के रूप में पूजा के भाजन बन जाते हैं, बस उसी भाँति हिन्दू धर्म ने भी इसका मार्ग अवरुद्ध करने वालों को गोद में उठाया और अंक में लेकर आगे बढ़ा। यह ऐसा कर सका क्योंकि इसमें उस समय इतनी शक्ति थी जिसके कारण स्वयं ही नहीं, दूसरों को भी अपने साथ ले चलने में समर्थ हुआ। साथ चलने वालों ने भी इसकी शक्ति तथा उदारता और स्नेह देखकर अपना हठ छोड़ दिया; वैर त्याग दिया तथा इसका स्नेह भाजन बनने में ही अपना कल्याण समझा। इसने भी उनको छाती से लगाया, इतना कि वे इसके अंग ही बन गये, इसके हृदय सिंहासन पर भी एक ओर स्थान पा सके। स्वामी शंकराचार्य हैं हिन्दू धर्म की इस समन्वयात्मक वृत्ति के ज्वलन्त उदाहरण; हजार वर्ष पूर्व काटे गये किन्तु उसी समय से सतत बढ़ते हुए वैदिक धर्म रूपी अक्षयवट के पुण्य फल !

बुद्ध भगवान् ने जब वैदिक धर्म के प्रति विद्रोह का सूत्रपात् किया तो वैदिक धर्म शान्त चित्त से बैठा नहीं रहा। उसने समय की गति को पहिचाना और साथ ही इस विद्रोह से देश को होने वाली हानियों को भी पहिचाना। अतः वैदिक मनीषियों के सम्मुख प्रश्न था वैदिक धर्म को सब प्रकार से सुदृढ़ और युगानुकूल बनाना। उन्होंने विद्रोह के कारणों को समझा तथा उनको दूर भी किया। इतना ही नहीं बौद्ध धर्म की समस्त अच्छाइयों को भी उन्होंने अपना लिया। यहाँ तक कि स्वामी शंकराचार्य ने तो भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार ही घोषित कर दिया। हिन्दू धर्म भी अब कुछ गिने-चुने कर्मकाण्डी विद्वानों की चीज नहीं रह गया था अपितु वह भी जनसाधारण की अपनी चीज हो गया था। इन सब परिवर्तनों के कारण बौद्ध धर्म भारत में अनावश्यक हो गया। जो भक्तिभाव और नैतिकता लोगों को बौद्ध धर्म में मिलती थी वही सब अब हिन्दू धर्म में थी; बल्कि यहाँ उससे अधिक था। यहाँ थी अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा, अपनी मातृभूमि की ममता, अपने स्वाभिमान की भावना तथा अपने राष्ट्रीय जीवन को बनाए रखने की महत्त्वाकांक्षा। स्वामी शंकराचार्य के काल तक बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म इतने निकट आ गये थे कि उनके भगवान् बुद्ध को अवतार मानने पर तथा वेदान्त की स्थापना करने पर जो कि बौद्धों को अपने शून्यवाद से मिलता-जुलता ही प्रतीत हुआ, बौद्ध धर्म का स्वतंत्र अस्तित्व अनावश्यक हो गया और वह हिन्दू धर्म में मिल गया। यह ऐक्य, उसके कारण तथा प्रयत्नों के इतिहास का विवेचन हमारे राष्ट्रीय जीवन की विशेषताओं को स्पष्ट कर देता है। जीवन-तत्त्वों के सम्बन्ध में हमारा सदा ही आग्रह रहा है तथा उस जीवन को पूर्ण करने के साधनों को हमने युग का परिधान पहिनाने में भी हिचकिचाहट नहीं की है।

वैदिक धर्म पर प्रहार होने पर सबसे पहले तो अपने सब अस्त्र-शस्त्रों को ठीक-ठाक कर सम्हाला गया तथा चारों ओर से मोर्चेबन्दी की गयी। एतदर्थ अपने धर्म को तर्क की सुदृढ़ नींव पर अवस्थित करने के लिए षड्दर्शनों का निर्माण हुआ। प्रत्येक दर्शन ने अपनी-अपनी पद्धति से वैदिक आदर्शों का अत्यन्त तर्कशुद्ध प्रणाली से प्रतिपादन किया। बाद में हम इन छहों दर्शनों में भी एक अद्भुत समन्वय तथा सामञ्जस्य पाते हैं। जनसाधारण को आकृष्ट करने के लिए बड़े-बड़े मन्दिर और मठों की स्थापना की गयी; पुराण और आगमों की रचना हुई। कथा-कहानी द्वारा अपने धर्म के गूढ़ सिद्धान्त जनसाधारण के सम्मुख रखे गये तथा भक्ति की जो लहर चली उसने सम्पूर्ण जनता को आप्लवित कर लिया। वेदों के

प्राचीनतम आदर्शों और उपदेशों को नवीन और रोचक ढंग से रखने के लिए ही पुराणों की सृष्टि हुई थी। इन पुराणों ने जैसा कि हमने देखा, प्राचीन की रक्षा करते हुए नवीन को ग्रहण किया तथा इस प्रकार विद्रोह का शमन करते हुए भी राष्ट्र की आत्मा को जीवित रखा। पुराने गार्हस्थ्यसूत्रों का स्थान स्मृतियों ने लिया तथा यज्ञयागादि का स्थान मन्दिर और पूजा अर्चन ने ले लिया। हिन्दू धर्म का स्वरूप बदल गया परन्तु इसकी आत्मा वही बनी रही क्योंकि अभी भी प्राचीन के प्रति वही श्रद्धा और आदर की भावना थी, वही प्राचीन आदर्श और जीवन की दृष्टि समाज के सम्मुख थी, हाँ उसके साधन बदल गये थे।

राष्ट्रत्व के विकास में स्वदेश का महत्त्व सबसे अधिक होता है। अतः इस युग में स्वतः ही अपनी सम्पूर्ण मातृभूमि के दर्शन का प्रयत्न किया गया। किसी भी मत अथवा सम्प्रदाय के मानने वाले क्यों न हों उनके सम्मुख हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, आसिन्धु-सिन्धुपर्यन्त भारत का चित्र रहता था। प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों ने यही प्रयत्न किया कि उनके सम्प्रदाय के लोग सम्पूर्ण भारत को पवित्र मानें। इतना ही नहीं भारत की इस एकता का प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकें, इसके लिए प्रत्येक सम्प्रदाय में तीर्थयात्रा की पद्धति प्रचलित हुई। ये तीर्थ तो सम्पूर्ण भारत के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक बिखरे हुए हैं। सूर्य के बारह मन्दिर, गाणपत्यों के द्वादश विनायक, शैवों के अठारहों ज्योतिर्लिंग, शाक्तों के इक्यावन शक्तिक्षेत्र तथा वैष्णवों के अगणित तीर्थक्षेत्र सम्पूर्ण भारत में बिखरे पड़े हैं। इन विस्तृत पुण्यक्षेत्रों के होते हुए प्रान्तीयता की संकुचित भावना का प्रवेश असम्भव ही था। मर्यादा पुरुषोत्तम राम की दक्षिण यात्रा ने उत्तर-दक्षिण का जो गठबन्धन किया वह जनसाधारण के आचार-विचार और भावना में अटूट हो गया। महाभारतकार ने इसी एकता को दिखाने के लिए एक बार नहीं दो-दो तीन-तीन बार भारत का एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक अत्यन्त भावुकतापूर्ण वर्णन किया। पुराणकारों ने भारत की भूमि के कण-कण की पवित्रता का गुणगान किया है।

प्रत्येक मत और सम्प्रदाय के सम्मुख तो सम्पूर्ण भारत का चित्र था ही तथा उनमें से प्रत्येक वैदिक धर्म की परम्परा की रक्षा करते हुए भारत भूमि की यशोवृद्धि का प्रयत्न कर रहा था किन्तु इस प्रकार एक ही ध्येय को लेकर कार्य करने वालों में पारस्परिक सहयोग और एकता भी आवश्यक थी। इसीलिए राष्ट्रीय भावना को और भी पुष्ट करने वाले भिन्न-भिन्न मतों और सम्प्रदायों में समन्वय की

वृत्ति का विकास भी इस युग में हुआ। इस समन्वय का बहुत कुछ श्रेय श्री स्वामी शंकराचार्य को है। इस समन्वयात्मक कार्य में भी भारत की एकता और अखण्डता का ध्यान रखा गया है। इस प्रकार ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ चारों ओर एकता का ही प्रसार हुआ। ताने-बाने के समान एक भावना-सूत्र को फैलाकर मानो एक वस्त्र निर्माण किया गया। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के तीर्थक्षेत्र सम्पूर्ण भारत में ताने के समान फैले हुए थे तो उनमें चार प्रमुख तीर्थक्षेत्रों को छाँटकर उनको सब सम्प्रदायों के आदर और श्रद्धा का स्थान बना दिया। हिमालय के हिमाच्छादित शिखर पर अवस्थित बद्रीनाथ की यात्रा सब प्रान्तों और सब सम्प्रदायों के लोगों की जीवन की कामना रही है। महोदधि और रत्नाकर दोनों ही जहाँ माता के चरण प्रक्षालन करते हैं वहाँ श्री रामेश्वरम् के दर्शन करने को जितनी श्रद्धा से शैव जाते हैं उससे भी अधिक श्रद्धा से वैष्णव गंगोत्री का जल लाकर शिवलिंग पर चढ़ाते हैं। "जगन्नाथ का भात, पूछो जात न पाँत" कहकर जिस प्रेम और श्रद्धा से श्री जगन्नाथ जी का प्रसाद पाते हैं वह तो राष्ट्रीय संघटन के लिए संजीवनी का काम करता है। बड़े से बड़े शाक्त भी श्री द्वारिकापुरी में जाकर अपनी श्रद्धा के रक्तकण भगवान् वासुदेव कृष्ण के चरणों में अर्पित करके अपने को धन्य समझते हैं। इसी प्रकार पुराणकारों ने जब कहा कि–

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।।

तब वे साम्प्रदायिक भावना से बहुत ऊँचे उठकर राष्ट्रीय धरातल से विचार कर रहे थे। ये सातों पुरियाँ मानों भारतीय राष्ट्र के मर्मस्थल हों, उसकी सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र हों। एक-एक के साथ अतीत की इतनी घटनाओं का सम्बन्ध है कि उनकी स्मृति मात्र से अपना सम्पूर्ण इतिहास चलचित्र की भाँति आँखों के सामने से गुजर जाता है। इतना ही नहीं भारतभूमि में कहीं भी कोई स्थान मिला, जिसका प्राकृतिक सौन्दर्य हमारी हृत्तन्त्री के तारों को झंकृत करके हमारे अन्तःकरण में कोमल एवं उच्च भावों की सृष्टि करता हो अथवा जिस स्थान का सम्बन्ध हमारे पूर्व पुरुषों, हमारे आदर्श एवं आराध्य राम और कृष्ण अथवा किसी भी महापुरुष के साथ हो, जिससे हमारे राष्ट्रीय इतिहास का घटनाचक्र हमारे मनश्चक्षु के सम्मुख खिंच जाय, बस उसी स्थान को तीर्थ का स्वरूप मिल गया, वहाँ यात्राएँ प्रारम्भ हो गयीं, मेले लगने लगे और ये मेले और यात्राएँ हमारे जीवन का अंग बन

गयीं। हृदय की जो श्रद्धा आज भी लाखों-करोड़ों यात्रियों को सब प्रकार का कष्ट झेलकर माघ के ठिठुरते जाड़े में कुम्भ मेले में स्नान करने को प्रेरित करती है, उसका स्रोत बहुत गहरा है। उस महात्मा का राष्ट्र कितना आभारी होगा जिसने यह श्रद्धा निर्माण करने वाले संस्कारों की नींव डाली। ये कुम्भ के मेले क्या हैं; मानो घूमते-फिरते राष्ट्रीय विद्यालय हैं, राष्ट्रीय सम्मेलन हैं जो कि भारत में चार प्रमुख स्थानों हरिद्वार, प्रयाग, उज्जयिनी और नासिक में प्रति तीसरे वर्ष होते रहते हैं। लाखों की संख्या में साधु-संन्यासी वहाँ आते हैं और करोड़ों की संख्या में जनता एकत्रित होकर उनके दर्शन और उपदेशों में अपने हृदय के कल्मष को धोकर जीवन के पावित्र्य का अनुभव करती है। जहाँ सभी सम्प्रदायों के लोग इस प्रकार प्रति तीसरे वर्ष एकत्रित होते रहते हों वहाँ भारत की समन्वयात्मक जलवायु में एकात्मकता का निर्माण हुए बिना रह ही नहीं सकता।

अपने दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में भी यह राष्ट्रीयता की भावना पुष्ट होती रही, इसके लिए दैनिक आचरण में भी राष्ट्र भावना के पोषक संस्कारों का समावेश कर दिया गया था। प्रातः उठते ही भूमि पर चरण रखते ही, अत्यन्त विनीत भाव से हिन्दू माता को नमस्कार करता हुआ कहता है–

समुद्रवसने देवि, पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं, पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।

वही सम्पूर्ण भारत का चित्र और उसके सम्मुख हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा ही मानो छलकी पड़ती हो। फिर जो प्रातःस्मरण करता है उसमें तो एक के बाद एक अपने पूर्वजों का स्मरण करता हुआ उनके समान बनने की अभिलाषा मन में करता है। उस प्रातःस्मरण में प्रान्त और सम्प्रदाय की संकुचित भावना को स्थान नहीं है; वहाँ तो शत-प्रतिशत विशुद्ध राष्ट्रीयता की ही भावना है। स्नान और संध्या में भी राष्ट्रीयता के जनक संस्कारों का समावेश किया गया है। स्नान करते समय अथवा संकल्प के लिए जल लेकर जब हम कहते हैं –

गंगे च यमुने चैव, गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिंधु कावेरि, जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु।।

तब भारत की समग्र पवित्र नदियों का आवाहन कर लेते हैं। इन्हीं नदियों के समान ही सात वन और सात पर्वत, चार सरोवरों को, जो कि सम्पूर्ण भारत में फैले हुए है, हमने अपने जीवन में महत्त्व का स्थान दिया है।

सब सम्प्रदाय के लोगों में एकता स्थापित करने के लिए ही हमारे यहाँ त्रिमूर्त्ति की कल्पना की गयी, जिसके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही परब्रह्म के भिन्न स्वरूप हैं। शैव और वैष्णवों में किसी भी प्रकार का विरोध न रहे इसीलिए तो पुराणकारों ने शिव और विष्णु को एक दूसरे का भक्त बना दिया। शिव यदि विष्णु की उपासना में लीन तथा विष्णु के चरण-कमल से निकली हुई गंगा को धारण किये हुए हैं तो विष्णु के अवतार राम बिना शिव की आराधना किए हुए तथा श्री रामेश्वरम् के मन्दिर की स्थापना किए हुए अपनी विजययात्रा में आगे नहीं बढ़ते। अपने वरदान के कारण जब शिवजी भस्मासुर और रावण जैसे राक्षसों से संत्रस्त होते हैं तो भगवान् विष्णु ही उनकी सहायता को दौड़ते हैं। गणपति और शक्ति का तो भगवान् शिव से कौटुम्बिक संबंध ही जोड़ दिया गया है। इस प्रकार सब सम्प्रदायों के आराध्य देवों को एक-दूसरे से सम्बन्धित करके हमारे पुराणकारों ने पारस्परिक प्रेम और सौजन्य का बीज बोया है। श्री शंकराचार्य ने तो पंचायतन की पद्धति चलाकर इस संबंध को और भी सुदृढ़ कर दिया। इसके अनुसार प्रत्येक पाँचों देवताओं, विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति और सूर्य की पूजा करता है। इस युग की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति और सहिष्णुता की वृत्ति का ही परिणाम है कि भारतीय सदा से प्रेम और सौहार्द से रहते आये हैं।

कर्म, भक्ति और ज्ञान की तीनों धाराओं का भी समन्वय हम इस युग में पाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही गीता में इन तीनों का सुन्दर समन्वय कर दिया था और गीता का इस युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था। स्वयं शंकराचार्य ने अपने जीवन में ज्ञान, कर्म और भक्ति का सुन्दर समन्वय किया। उन्हीं के प्रयत्नों के कारण प्रस्थानत्रयी को मान्यता प्राप्त हो गयी। प्रस्थानत्रयी को महत्त्व देकर जहाँ एक ओर उन्होंने बौद्धों के वेद-विरोधी दुराग्रह से मुक्ति पा ली वहाँ वेदों की आत्मा को भी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता के ज्ञान द्वारा जीवित रखा।

भारत की इस अखण्डता और एकता को स्थूल स्वरूप देने के लिए एक के बाद एक सम्राट् हुए, जिन्होंने एकच्छत्र चातुरन्त साम्राज्य स्थापित किये। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्ष और पुलकेशी तक अनेकानेक सम्राटों ने भारत की इस एकसूत्रता को बनाये रखने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं, भारत के एक जीवन को मानो संसार के सामने प्रकट करने के लिए जब-जब उत्तर में विदेशियों का

आघात हुआ, तो केवल उत्तर ही नहीं, दक्षिण को भी मर्मान्तक पीड़ा पहुँची। सिर पर चोट लगते ही जैसे सम्पूर्ण शरीर की शक्तियाँ प्रतिकार करने को उद्यत हो जाती हैं उसी प्रकार उत्तर में शक और हूणों के आक्रमण का प्रतिरोध दक्षिण से आने वाले शकारि विक्रमादित्य और यशोधर्मन की शक्तियों ने किया। इस प्रकार सुख और दुःख में, जय-पराजय में और वैभव-पराभव में जो एकता और अभिन्नता प्रकट की गयी उसने हमारे राष्ट्र को एक जीवन के सूत्र में संघटित कर दिया।

हमारे साहित्यकारों ने भी राष्ट्र की इस एकात्मता को ही वाणी का परिधान पहनाकर जन-समाज के सम्मुख उपस्थित किया। रामायण और महाभारत हमारे राष्ट्र के साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति बन गये। भगवान् राम और कृष्ण का चरित्र आदर्श के रूप में राष्ट्र के सामने उपस्थित हुआ। इनके जीवन में हिन्दू समाज ने अपने हृदय की भावनाओं का व्यक्तीकरण पाया। हमारे साहित्यकारों ने भी राष्ट्र की श्रद्धा के इन केन्द्रों के प्रति अपनी श्रद्धा के दो फूल चढ़ाकर आत्मसुख का अनुभव किया तथा जनता की इस श्रद्धा को अमर बनाया। इस युग में कोई कवि ऐसा नहीं दिखता जिसने राम और कृष्ण पर काव्य न लिखे हों, जिसने अपने काव्य का विषय रामायण और महाभारत में से न चुना हो। इतना ही नहीं इन साहित्यकारों ने ही इस युग के जीवन का सम्बन्ध प्राचीन से जोड़ दिया। जैसा कि कहा गया है, साहित्य अपने समय के समाज का दर्पण होता है जिसमें समाज की मनोभावनाओं का ही प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। अब यदि साहित्यकार अपने पात्र उस युग से न छाँटकर प्राचीन से छाँटता है तो प्राचीन और नवीन का एक अद्भुत एवं जीवनप्रद सम्मिश्रण उसके साहित्य में मिलता है। अपनी भावनाओं का प्राचीन महापुरुषों से सामञ्जस्य अनुभव करके जनता एक सुख, समाधान और शक्ति का अनुभव करती है। समुद्रगुप्त की दिग्विजय का वर्णन जब कवि ने रघु की दिग्विजय के रूप में किया तो भारत की अखण्डता को एक सूत्र में ग्रथित करने वाली परम्परा को कितनी शक्ति प्राप्त हुई होगी ? इन साहित्यकारों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही सम्पूर्ण देश में वेदवाणी संस्कृत देवी भारती का समान रूप से आदर होने लगा। भारत की प्रान्तीय प्राकृत भाषाएँ होते हुए भी संस्कृत हमारी राष्ट्रभाषा बनकर हमारे विचार-विनिमय, भावना-प्रदर्शन, पवित्र संस्कार तथा ज्ञान-विज्ञान के प्रचार का साधन बनी और सबने इसके कलेवर को समान रूप से पुष्ट किया।

हमारे नीतिकार और स्मृतिकारों ने भी हमारी इस एकता की भावना को

बढ़ाने में बड़ी सहायता की। महर्षि चाणक्य ने जहाँ एक ओर 'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायाः एकराट्' के प्राचीन आदर्श को सत्य-सृष्टि में परिणत करने के लिए सम्राट् चन्द्रगुप्त को प्रेरित किया वहाँ दूसरी ओर राजनीति और अर्थशास्त्र के गूढ़तम नियमों की रचना करके राष्ट्र की एकसूत्रता बनाये रखने का प्रबन्ध कर दिया। कौन अपना है और कौन पराया, इसका ठीक-ठीक ज्ञान भी राष्ट्रत्व की भावना के लिए पोषक होता है और फिर परायों से विजित होकर न रहने की भावना तथा अपने जीवन को बनाये रखने का आग्रह तो इस भावना को और भी पुष्ट करता है। हम अपने नीति साहित्य में यह भावना सर्वत्र पाते हैं। जब महर्षि चाणक्य ने घोषणा की कि 'न त्वेवार्यस्य दास्यभावः', तब मानो राष्ट्र का स्वाभिमान ही पुकार उठा था। दासत्व की कल्पना के पीछे राष्ट्रत्व के अस्तित्व का भान तथा दासत्व से घृणा में राष्ट्र का स्वाभिमान अन्तर्निहित है। हमारी यह भावना बराबर बनी रही है कि हम स्वयं अपने स्वामी बने रहें; ईश्वरदत्त देश आर्यावर्त्त में हम स्वतंत्रतापूर्वक रह सकें। यह एक ऐसी भावना है जो राजनीतिक भी है और भौगोलिक भी। इसके अनुसार लोग आरम्भ से ही यह समझते रहे हैं कि आर्यावर्त्त में हिन्दुओं का ही राज्य होना चाहिए; इसका उल्लेख मानवधर्म शास्त्र (२, २२, २३) तक में है, और यह भावना पतंजलि के समय से; मेधातिथि (आक्रम्याक्रम्य न चिरं तत्र म्लेच्छा स्थातारो भवन्ति) और बीसलदेव तक बराबर लोगों के मन में जीवित रही है। (आर्यावर्त्त यथार्थ पुनरपि कृतवान् म्लेच्छविच्छेदनाभिः।*) इस भावना को इस युग के तत्त्वज्ञों ने अत्यन्त पुष्ट किया। मनुस्मृति ने तो सम्पूर्ण भारतवर्ष का वर्णन करके इसको पुण्यभूमि के नाम से अभिहित किया है तथा शेष सम्पूर्ण देशों को म्लेच्छ कहा है "भारतं नाम तद्वर्षं भारती यत्र संततिः" जैसे वाक्य भारत देश और इसके जनसमूह की आत्मा का ही दिग्दर्शन कराते हैं। इसी संतति का वर्णन करते हुए मनु ने कहा–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः।।

और इस गुरु स्थान के योग्य चरित्र की महत्ता प्राप्त करने के निमित्त जब अपने नियमों की रचना की तो सम्पूर्ण देश ने अपने मन में महत्त्वाकांक्षा लेकर उन नियमों का एक-सा पालन किया। भारत की सम्पूर्ण जनता ने अपने आचार-

* काशी प्रसाद जायसवाल– अन्धयुग, पृष्ठ १०४

विचारों को स्मृतिकारों के मापदण्ड से नापा और एकता के ढाँचे में ढालने वाले इन संस्कारों को अपने जीवन में स्थान दिया। परिणामतः सम्पूर्ण भारत में एक रीति-नीति, एक नियम-उपनियम और एक व्यवहार की सृष्टि हुई। इन्हीं नीतिकारों ने हमारी ग्राम-पंचायतों को जन्म दिया। जिनका स्वरूप सम्पूर्ण भारत में एक-सा था तथा जिन्होंने ऊपर के शासन में परिवर्तन होते हुए भी भारतीय आत्मा की स्वतंत्रता और एकात्मता को बनाये रखा।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्र की आत्मा का सर्वांगीण विकास हुआ तथा वह अत्यन्त बलवती बनी। भारतवर्ष के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ सम्पूर्ण हिन्दू समाज समान विचारधारा एवं समान कर्तृत्व से समन्वित होकर, जीवन की एकरसता से परिपूर्ण होकर, एक संस्कृति के आधार पर अखण्ड राष्ट्रीयता के पक्के रंग में रंग गया। इस युग के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही देश की जो एक राष्ट्रीयता परिपक्व रूप में प्राप्त हुई वह पीछे के राजनीतिक पराजय के काल में भी अक्षुण्ण बनी रही। ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरब से जो एक आँधी उठी थी उसने यूनान, मिस्र, स्पेन और फारस आदि बड़े-बड़े राष्ट्रों को सदा के लिए उड़ा दिया, परन्तु भारतवर्ष में आकर वह समुद्र तट के एक कोने से टकराकर लौट गयी। इसके पश्चात् आक्रमणकारियों को भी सारे समाज ने एकमत से अपना शत्रु माना और उनसे देश को मुक्त करने के प्रयत्न स्थान-स्थान पर चलते रहे। यही नहीं, आज के युग में भी वही संस्कृति हमारे हृदय में जाग रही है। 'हिन्दू' शब्द का उच्चारण करने के साथ ही एक हिन्दू का दूसरे हिन्दू के रक्त के बिन्दु-बिन्दु से मानो तादात्म्य हो जाता है। इसी अखण्ड राष्ट्रीयता का आज हमें पुनः आह्वान करना होगा और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक एवं सेतुबंध से हिमाचल के सारे उपांगों तक विस्तृत मातृभूमि को गौरव तथा स्वाभिमान प्राप्त कराने के लिए अपने त्यागपूर्ण एवं कर्मठ पूर्वजों के प्रयत्नों की परम्परा को अपनाना होगा।

☆

स्वतंत्रता की साधना और सिद्धि

स्वराज्य जीवंत राष्ट्र का साधारण लक्षण है। बिना स्वराज्य के राष्ट्र न तो अपना हित-सम्पादन कर सकता है, और न अपनी अभिव्यक्ति। अतः प्राणिमात्र में जैसे प्राणेषणा स्वाभाविक है, वैसे ही राष्ट्र में स्वतंत्रता की चाह उसके जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। बिना इस भूख के कोई भी मानव-समूह राष्ट्र की संज्ञा नहीं पा सकता। अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि राष्ट्रों के इतिहास में स्वराज्य की प्राप्ति, संरक्षण और संवर्द्धन के प्रयत्नों का ही बहुत बड़ा भाग रहा है।

जिस प्रकार प्राणों का स्पन्दन ही जीवन नहीं, वैसे ही स्वराज्य ही सम्पूर्ण राष्ट्र का पूर्ण रूप नहीं है। सामान्य जीव से विकास की सीढ़ी पर जैसे-जैसे प्राणी ऊपर उठता है, उसका जीवन आहार, निद्रा, भय, मैथुन जैसी प्राकृतिक क्रियाओं के अतिरिक्त निश्चित ध्येय-केन्द्रित क्रिया-कलापों का साधन बन जाता है। 'ध्येय ही जीवन है' यह वाक्य चरितार्थ होता है। राष्ट्रों के जीवन में भी स्वराज्य एक साधन है– समाज की वह स्थिति है जिसमें वह निर्बाध रूप से अपने विवेक के अनुसार निश्चित ध्येय की ओर बढ़ सकता है।

१५ अगस्त १९४७ को अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद हमें राजनीतिक स्वतंत्रता मिली। राष्ट्र-जीवन की अभिव्यक्ति और अपने पुरुषार्थ को प्रकट करने का हमें अवसर मिला। किन्तु यह अवसर भी पूर्ण और स्पष्ट नहीं था। हमारी राजनीतिक सत्ता भी काफी अंशों में मर्यादित थी। देशी राज्यों के विलीनीकरण, गोआ, पाण्डिचेरी आदि की मुक्ति से हमने इस कमी को कुछ अंशों में पूरा किया है। किन्तु पाकिस्तान का अस्तित्व भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता को अभी खण्डित किये हुए है। पाकिस्तान को अलग स्वतन्त्र राज्य मानना भूल होगी। वह उस मनोवृत्ति और परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, जो भारत की राष्ट्रीय अस्मिता को समाप्त कर, यहाँ परकीय राज्य और निष्ठाएँ प्रतिष्ठापित करना चाहती थीं। पाकिस्तान के रहने वाले भारतीय राष्ट्र के अंग होने के बाद भी उनका

गुरुत्वाकर्षण केन्द्र भारत की भूमि, जन, इतिहास, संस्कृति और सभ्यता में नहीं है। अतः पाकिस्तान भारत की गुलामी का अवशेष है। वहाँ के अपने बन्धुओं को उस दासता से मुक्त किये बिना हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता अधूरी ही रहेगी। शरीर में व्याप्त विष के समान वह हमें सदैव सालती रहेगी।

स्वराज्य के बाद स्वराज्य क्यों, यह प्रश्न सहज है। इसका उत्तर मनमाने ढंग से नहीं दिया जा सकता। भारत अभी तक यह उत्तर ठीक प्रकार से नहीं दे पाया है। अतः वह अपने में कुछ खोया-खोया सा अनुभव कर रहा है। यही कारण है कि विदेशी आक्रमणों के अवसर पर तो हमारी चेतना एकदम जाग्रत हो जाती है, किन्तु शेष समय हम रचनात्मक रूप में अपनी शक्तियों को संजोकर क्रियाशील नहीं हो पाते।

इस उत्तर को देने के पहले हमें एक तथ्य भलीभाँति मनोगत कर लेना होगा कि कोई भी राष्ट्र मानवों का समुच्चय मात्र नहीं, अपितु एक जीवन्त इकाई है।

इस इकाई की अपनी एक विशेष प्रकृति होती है, जो केवल ऐतिहासिक क्रियाओं अथवा सामाजिक संस्कारों और वातावरण का परिणाम नहीं, अपितु मूलगत है। शास्त्र ने इसे 'चिति' कहा है। चिति उसके विकास की दिशा निश्चित करती है। इसी मार्ग पर आगे बढ़कर राष्ट्र अपने जीवनोद्देश्य को सिद्ध करता हुआ मानव की एकता की अनुभूति और उसकी प्रगति में योगदान कर सकता है। योगी अरविन्द ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है–

"Each Nation is a Shakti or Power of the evolving Spirit in humanity and lives by the Principles which it embodies."

(प्रत्येक राष्ट्र विकासोन्मुख मानवात्मा की एक शक्ति के रूप में अभिव्यक्त है, तथा वह उन सिद्धान्तों के आधार पर ही जीता है, जिनका वह मूर्त्तिमान् रूप है।)

भारत की भी अपनी एक प्रकृति है। उसकी भी एक आत्मा है। उसके साक्षात्कार का प्रयत्न हमारा साध्य होना चाहिए। इसी के द्वारा हम अपनी समस्याओं का समाधान कर सकेंगे, अपने देश की समृद्धि तथा जन के सुख और हित की व्यवस्था कर सकेंगे, तथा मानव की प्रगति में अपना कुछ योगदान दे सकेंगे। इस ध्येय के सहारे ही हम राष्ट्र के जन-जन में प्रबल पुरुषार्थ, त्याग और तपस्या के भाव पैदा कर सकेंगे। इसी स्थिति में उन्हें कर्म की प्रेरणा मिलेगी तथा उस कर्म की

आराधना में उनके जीवन का विकास होगा। इसी से उनकी आत्मा को सुख मिलेगा।

अंग्रेजों के जाने के बाद गांधी जी भी ज्यादा दिन जिन्दा नहीं रह पाये, तथा राज्य-सत्ता जिनके हाथों में आयी, वे भारत की भाषा और भावना को न तो समझ पाये, और न उसके वह सपने रख पाये, जो उसे अपना लगता। अंग्रेज से लड़ते समय हमने चाहे जितना स्वदेशी का नारा लगाया हो, किन्तु उसके जाने के बाद हमने अपने सम्पूर्ण जीवन को तथा अपनी समस्याओं को उसी के चश्मे से देखा। फलतः हमारी राजनीति, अर्थ-नीति, समाज-व्यवस्था, साहित्य और संस्कृति पर अंग्रेजियत की गहरी छाप है। भारतीयता अगर कहीं दिखती है तो वह ऊपर-ऊपर है। हमारी मौलिक धारणाएँ विदेशी हैं। हमारा संविधान मुख्यतः १९३५ के इण्डिया एक्ट का ही थोड़ा-सा सजा-संवारा रूप है। मौलिक अधिकारों तथा अन्य इसी प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में हमने उसमें जो कुछ जोड़ा है, वह बाहर के संविधानों से उधार लिया है, तथा उसके ऊपर योरोप और इंग्लैण्ड के राजनीतिक दर्शनों की छाप है।

विभिन्न राजनीतिक दल, वे समाजवादी हों या गैर-समाजवादी, योरोप की राजनीतिक विचार-धाराओं से ही प्रभावित हैं, तथा वे भारत को किसी न किसी देश की अनुकृति बनाना चाहते हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू का 'समाजवाद' ब्रिटेन की मजदूर पार्टी के समाजवाद से भिन्न नहीं था। वे प्रजातंत्र और समाजवाद, दोनों का मेल बिठाना चाहते थे। इससे एक ओर तो प्रजातन्त्र के हामियों के मन में आशंकाएँ पैदा हो गयीं, और दूसरी ओर समाजवाद के समर्थकों को संतोष नहीं हुआ।

प्रजातन्त्र और समाजवाद योरोप की दो भिन्न-भिन्न क्रान्तियों की देन हैं। कालक्रम से 'समाजवाद' नया है। उसने प्रजातन्त्रीय योरोप में विभिन्न कारणों से, जिनमें औद्योगीकरण प्रमुख है, उत्पन्न समस्याओं के निदान और समाधान का प्रयास किया। किन्तु इस प्रयास में प्रजातन्त्रीय मूल्यों की बलि देनी पड़ी। जिनकी प्रजातन्त्र में विशेष आस्था नहीं थी उन्होंने तो इसकी चिन्ता नहीं की, किन्तु शेष समाजवाद के प्रति शंकाकुल हो गये। उनमें से कुछ ने तो समाजवाद को त्याज्य समझकर छोड़ दिया। कुछ ने समाजवाद और प्रजातन्त्र, दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह अभी तक संभव नहीं हो पाया है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि यह कभी संभव नहीं होगा।

भारत ने भी पंडित जवाहरलाल नेहरू के शासनकाल में प्रजातन्त्रीय समाजवाद का नारा लगाया। हमें इसमें सफलता नहीं मिली, क्योंकि अभी तक हम प्रजातन्त्र और समाजवाद, दोनों के उस स्वरूप और विवेचन के आधार पर ही प्रयत्न कर रहे हैं, जो मूलतः विदेशी और अधूरा है। गम्भीरता से विचार करें, तो ये दो ही विचारधाराएँ जीवन के एक-एक पहलू और उनसे सम्बन्धित सत्यों की अभिव्यक्ति करती हैं। उनका समन्वय संभव है। किन्तु वह तभी होगा, जब हमारा दृष्टिकोण संश्लेषणात्मक हो। पश्चिम में विकसित प्रजातंत्रीय संस्थाओं एवं परम्पराओं के अथवा कार्ल मार्क्स द्वारा प्रकल्पित और लेनिन, स्टालिन प्रभृति द्वारा रूस में प्रयुक्त समाजवाद के बने-बनाये ढाँचे में सम्पूर्ण जीवन को कसना ठीक नहीं होगा। भारत का जीवन इन दोनों कल्पनाओं से बड़ा है। अतः इस प्रयत्न में हम जो खींचतान करते हैं, उसमें हमारी हानि होती है। भारत पर पश्चिमी राजनीति का प्रक्षेपण करने के स्थान पर हमें अपने ही राजनीतिक-दर्शन का विकास करना होगा। इसमें हम पश्चिम के चिन्तन का लाभ उठा सकते हैं, किन्तु न तो हम उससे अभिभूत हों, और न उसे ध्रुव सत्य मानकर चलें। यह देश, काल, दोनों ही दृष्टि से ठीक नहीं होगा।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारतीय राजनीति-दर्शन का विचार बिलकुल नहीं हुआ, यह कहना सत्य नहीं होगा। किन्तु अभी संकलित यत्न करना बाकी है। गांधी जी की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए तथा भारतीय दृष्टिकोण से विचार करते हुए, सर्वोदय के विभिन्न नेताओं ने महत्त्वपूर्ण कल्पनाएँ रखी हैं। किन्तु आचार्य विनोबा भावे ने ग्रामदान के कार्यक्रम को जो अतिरेक महत्त्व दिया है, उससे उनका वैचारिक क्षेत्र का योगदान पिछड़ गया है। जयप्रकाश बाबू भी जिन पचड़ों में पड़ गये हैं, उससे उनका चिन्तन का कार्यक्रम रुक गया है। रामराज्य परिषद् के संस्थापक स्वामी करपात्री जी ने भी 'कम्युनिज्म और साम्यवाद' लिखकर, पाश्चात्य राजनीतिक-दर्शनों की मीमांसा की है तथा अपने विचार रखे हैं। किन्तु उनका दृष्टिकोण मूलतः सनातनी होने के कारण वे सुधारवादी आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाते। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक श्री मा.स. गोलवलकर भी समय-समय पर भारतीय दृष्टिकोण से वर्त्तमान राजनीतिक प्रश्नों का विवेचन करते रहे हैं। भारतीय जनसंघ ने भी 'एकात्म मानववाद' के आधार पर उस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है। हिन्दू सभा ने 'हिन्दू समाजवाद' के

नाम पर समाजवाद की कुछ अलग व्यवस्था करने का प्रयत्न किया था, किन्तु वह विवरणात्मक रूप में सामने नहीं आ पाया। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने भी समाजवाद पर जो विचार व्यक्त किये हैं, उनमें भारतीय जीवन-दर्शन का अच्छा विवेचन है। चिन्तन की इस दिशा को आगे बढ़ाने की आवश्यकता है।

भारतीय राजनीति का विचार भारत की संस्कृति और जीवन-दर्शन से अलग हटकर नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति एकात्मवादी है। सृष्टि की विभिन्न सत्ताओं तथा जीवन के विभिन्न अंगों के दृश्य-भेद स्वीकार करते हुए, वह उनके अन्तर में एकता की खोज कर उनमें समन्वय की स्थापना करती है। समाजवाद और प्रजातंत्र, दोनों ही वर्ग-संघर्ष में से पैदा हुए हैं। यद्यपि दोनों का उद्देश्य इस संघर्ष को समाप्त कर एकता प्रतिष्ठापित करना है। किन्तु इस उद्देश्य की सिद्धि का जो रास्ता उन्होंने अपनाया है, उसमें वर्गों की समाप्ति न होकर केवल रूपान्तर हुआ है तथा संघर्ष और अधिक भीषण हो गया है। प्रजातंत्र ने राजा और प्रजा के संघर्ष को स्थायी मानकर राजा को समाप्त किया। पर प्रजा के विभिन्न दलों में संघर्ष प्रजातंत्र की स्थायी मान्यता बन गयी है। समाजवाद के सस्वत्व-निःस्वत्व के बीच के संघर्ष को आधार बनाया। वर्ग बदल गये और संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। इसका कारण पश्चिम की सभी विचारधाराओं के मूल में विद्यमान डार्विन का जीवन-संघर्ष का सिद्धान्त है। सृष्टि-संघर्ष पर नहीं, समन्वय और सहयोग पर टिकी है। पुरुष प्रकृति के संघर्ष से नहीं, अपितु उनकी परस्पराधीनता से सृष्टि बनती और चलती है। अतः वर्ग-विरोध और संघर्ष के स्थान पर परस्परावलम्बन, पूरकता, अनुकूलता और सहयोग के आधार पर ही समग्र क्रिया-कलापों का विवेचन और उनकी भावात्मक दिशा का निर्धारण होना चाहिए।

व्यक्ति और समाज के बीच भी कोई संघर्ष नहीं है। यदि कहीं है, तो वह विकृति का लक्षण है। समष्टिहित के लिए व्यक्ति की स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में स्वैराचार में व्यक्ति का विकास नहीं, विनाश है। समष्टि के साथ एकात्मता ही व्यक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था है। व्यक्ति ही समष्टि की पूर्णता का माध्यम और माप है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य और समाजहित अविरोधी हैं। लोकतंत्र लोक-कर्त्तव्य के निर्वाह का एक साधन मात्र है। साधन की प्रभाव-क्षमता लोक-जीवन में राष्ट्र के प्रति एकात्मता, अपने उत्तरदायित्व का भान तथा अनुशासन पर निर्भर है। यदि नागरिक में ये संस्कार न रहें, तो लोकतंत्र

व्यक्ति, वर्ग तथा दलों के निहित स्वार्थों के लक्षण और संवर्द्धन का साधन बनकर विकृत हो जाता है।

सम्पत्ति-संबंधी अथवा अन्य मूलाधिकार शाश्वत नहीं हैं। वे सब समाजहित सापेक्ष हैं। वास्तव में ये अधिकार व्यक्ति को इसलिए दिये जाते हैं कि उनके द्वारा वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सके। सिपाही को हथियार इसलिए दिया जाता है कि उससे वह समाज की रक्षा करे। यदि वह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता तो वह शस्त्र धारण का अधिकारी नहीं रहता। चोर और डाकू के पास हथियार नहीं रहने दिये जा सकते। इसी प्रकार व्यक्ति को संपत्ति-संबंधी अधिकार इसलिए मिले हैं कि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। इस कार्य के लिए समय-समय पर इन अधिकारों की व्याख्या और मर्यादा में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। सम्पत्ति का कोई अधिकार समाज-निरपेक्ष नहीं है।

भारतीय संस्कृति के एकात्मवादी, समन्वय-प्रधान तथा कर्त्तव्य-मूलक दृष्टिकोण से विचार किया जाये तो प्राजतंत्र और समाजवाद परस्पर विरोधी न होकर समन्वित हो सकते हैं। किन्तु यह समाजवाद राज्याधिष्ठित अथवा शासन-केन्द्रित नहीं होगा। राज्य को समाज की एकमेव प्रतिनिधि संस्था मानना भूल है। इसी से राज्य को समाप्त करने का वादा करके भी कम्युनिज्म ने राज्य को सर्वग्राही बना दिया। समाज अपने हित के लिए कुटुम्ब से लेकर राज्य तक तथा विवाह से लेकर संन्यास तक अनेक संस्थाओं का निर्माण करता है। व्यक्ति भी समाज का प्रतिनिधि है। यदि व्यक्ति समाजनिष्ठ न रहा तो केवल संस्थागत परिवर्तनों से काम नहीं चलेगा। इस परिस्थिति में यदि समाजवाद के उद्देश्य से राज्य अधिकाधिक जीवन का स्वामी और नियन्ता बनता गया तो राज्य-कर्मचारियों के भ्रष्टाचार से समाज-हित का अधिकाधिक लोप होता जायेगा तथा पूँजीवादी व्यवस्था की जिन बुराइयों को दूर करने के लिए ये संस्थागत परिवर्तन होंगे, वे और भी बढ़ जायेंगी।

अतः समाजवाद और प्रजातंत्र, दोनों की सफलता गैर-सरकारी तथा राजनीति निरपेक्ष आन्दोलनों तथा शिक्षा पर निर्भर है। लोक-संस्कार का सर्वाधिक महत्त्व है। दयानन्द, गांधी और हेडगेवार ने जिस प्रकार प्रेरणा पैदा की, उस ओर यदि देश का ध्यान गया तो समाज की धारणा-शक्ति प्रबल होगी। इससे ही राष्ट्र की चिति जाग्रत होकर उसका विराट् प्रबल होगा। चिति और विराट् का वही सम्बन्ध है, जो आत्मा और प्राणों का है। विभिन्न संस्थाएँ शरीर की इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियाँ

प्राणों से ही सजग और सक्षम होती हैं। प्राण बिना आत्मा के संचार नहीं कर सकते।

जहाँ तक राजनीतिक क्षेत्र का सम्बन्ध है, वहाँ जल्दबाजी से काम नहीं चलेगा। हमें वर्त्तमान संविधान और उसकी मान्यताओं के अन्तर्गत ही काम करना पड़ेगा। जब-जब वह समाज के हितों में बाधक होगा, उसका संशोधन आवश्यक हो जायेगा। पिछले पन्द्रह वर्षों में अनेक बार हुआ भी है। अभी तक हमारा कोई भी सुधारवादी अथवा क्रान्तिकारी कार्यक्रम संविधान की अड़चन के कारण रुका नहीं। किन्तु समाज में योग्य शिक्षा तथा प्रशासन में कर्त्तव्यनिष्ठा के अभाव के कारण हमारे अधिकांश कार्यक्रम ऊपरी परिवर्तन मात्र रह गये हैं। अतः संस्थागत परिवर्तन के स्थान पर मानस-परिवर्तन पर अधिक बल देना होगा।

आर्थिक विकास के लिए भी वर्तमान संविधान बाधक सिद्ध नहीं हुआ। यदि बाधा रही है तो यही कि हमने देश के सभी साधनों को, जिनमें सरकारी और गैर-सरकारी दोनों क्षेत्र सम्मिलित हैं, पूरी तरह संजोकर काम नहीं किया। अभी तक हमारे यहाँ विभिन्न क्षेत्रों में शीतयुद्ध चल रहा है। सरकारी और निजी क्षेत्र एक दूसरे के पूरक हो सकते हैं पर वे इस ढंग से काम कर रहे हैं, मानो प्रतिस्पर्द्धा हो। यही हाल सरकारी क्षेत्र का है। इस नीति का परिणाम यह हुआ है कि सभी क्षेत्रों में साहस की कमी नजर आती है तथा वे अधिकाधिक राज्य-मुखापेक्षी बनते जा रहे हैं। यदि सम्पूर्ण भारत के पुरुषार्थ और पराक्रम को प्रकट होने का अवसर मिले तो हम पश्चिम के पूँजीवादी तथा रूस के समाजवादी युग से भी कम समय में अपनी प्रगति कर लेंगे, कारण कि कालक्रम से हम दोनों के अनुभवों का लाभ उठा सकते हैं। पूँजीवादी देशों की प्रगति में यदि कुछ अधिक समय लगा तो उसका कारण पूँजीवादी व्यवस्था नहीं, अपितु वैज्ञानिक आविष्कारों तथा औद्योगिकों के विकास में लगने वाला समय भी उस कालखण्ड में सम्मिलित है। रूस ने जब अपना औद्योगिक विकास प्रारम्भ किया तो उसे यह ज्ञान सहज ही मिल गया। हम भी आज पिछले मानव-ज्ञान का लाभ उठाकर आगे का विचार कर सकते हैं। अतः जुटकर काम हुआ तो हम तुलनात्मक दृष्टि से कम समय में अपनी अर्थनीति को सचेत और समृद्ध कर सकते हैं। थोड़ा-बहुत काम तो व्यक्ति अथवा वर्ग के स्वार्थों को जगाकर, अथवा उसके जीवन की किसी एक भूख को संतुष्ट करने के नाम पर भी हो सकता है। प्रतिक्रिया से भी प्रेरणा मिलती है। पूँजीवाद और समाजवाद यही

कर रहे हैं। इससे प्रेय मिल सकता है; किन्तु श्रेय नहीं। श्रेय और प्रेय दोनों को प्राप्त करने के लिए राष्ट्र को आदर्शवादी बनाना होगा। चिति से इस आदर्श की निश्चिति होगी। इस आधार पर विराट् जाग्रत हुआ, तो राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा। इसमें से ही वह विवेक और सामर्थ्य पैदा होंगे, जिनसे हम पुरानी रूढ़ियों को बदलकर तथा विदेशी प्रभावों से मुक्त होकर, नयी स्वस्थ एवं चैतन्य संस्थाओं को जन्म दे सकेंगे। इसी से हमारा राष्ट्र विश्व के लिए भार न बनकर, तथा परावलम्बी और परमुखापेक्षी न रह कर, नये विश्व की रचना में अपना योगदान दे सकेगा। यही हमारी नियति है। यही स्वतन्त्रता की साधना और सिद्धि होनी चाहिए।

☆

लोकमत का नियामक कौन हो ?

राज्य पुनर्गठन के प्रश्न पर जब देश में विभिन्न माँगों को लेकर लोगों की भावनाएँ बड़ी उग्र होती जा रही थीं, प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू से एक शिष्टमण्डल मिला। शिष्टमण्डल के एक सदस्य ने पण्डित जी से निवेदन किया कि दिल्ली में विधानसभा को समाप्त करने के उनके निर्णय से जनता बहुत प्रसन्न है, अतः वे उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन न करें। नेहरूजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया– "जो लोग विधानसभा को बनाये रखने की माँग लेकर आते हैं, वे भी जनता के नाम पर ही बातें करते हैं। जनता की इच्छा कौन सी समझी जाय ?" पण्डित जी ने जो प्रश्न उपस्थित किया वह लोक-राज्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कारण, लोकतंत्र में राज्य जनता की इच्छाओं के अनुसार चलता है। किन्तु किन्हीं भी दो व्यक्तियों की इच्छाएँ एक सी नहीं हो सकतीं। फिर जहाँ करोड़ों मानवों का प्रश्न हो वहाँ राष्ट्र के सभी जन एक ही इच्छा करेंगे, यह सामान्यतया सम्भव नहीं। हाँ, युद्ध आदि के समय अवश्य सबकी इच्छाएँ शत्रु पर विजय प्राप्त करने की हो जाती हैं किन्तु वहाँ भी नीति के प्रश्न को लेकर अनेक मतभेद हो सकते हैं।

लोकेच्छा वास्तव में भाववाचक कल्पना मात्र है। सच तो यह है कि जनतंत्र में किसी की भी इच्छा नहीं चलती। प्रत्येक को एक सामान्य इच्छा के अनुसार अपनी इच्छा को ढालना होता है। यदि ऐसा न हो तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं, मान्यताओं और विश्वासों को ही सर्वोपरि मानकर अड़ा रहे तो लोकतन्त्र नहीं चल सकेगा। अराजकता, विघटन और अन्त में एकतन्त्रीय निरंकुश शासन इस स्थिति के अवश्यंभावी परिणाम होंगे।

अपनी इच्छाओं पर दमन का अर्थ है दूसरे की बात को मानने की तैयारी। लोकतन्त्र की एक व्याख्या यह की गयी है कि वह वाद-विवाद के द्वारा चलने वाला राज्य है। "वादे-वादे जायते तत्त्व बोधः" यह हमारे यहाँ की पुरानी उक्ति है। किन्तु

यह तत्त्व-बोध तो तभी हो सकेगा जब हम दूसरे की बात को ध्यानपूर्वक सुनेंगे और उसमें जो सत्यांश होगा उसको ग्रहण करने की इच्छा रखेंगे; यदि दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न न करते हुए हम अपने ही दृष्टिकोण का आग्रह करते जायें तो "वादे-वादे जायते कण्ठशोषः" की उक्ति ही चरितार्थ होगी। वोल्टेयर ने जब यह कहा कि "मैं तुम्हारी बात सत्य नहीं मानता। किन्तु अपनी बात कहने के तुम्हारे अधिकार के लिए मैं सम्पूर्ण शक्ति से लड़ूँगा" तो उसने मनुष्य के केवल 'कण्ठशोष' के अधिकार को ही स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति इससे आगे बढ़ कर वाद-विवाद को "तत्त्व-बोध" के साधन के रूप में देखती है।

दृष्टिकोण में इस परिवर्तन के लिए जीवन में संयम की नितान्त आवश्यकता है। जो असंयमी है वह अपनी इच्छाओं पर कभी काबू नहीं पा सकता। उनकी पूर्ति के लिए वह बाकी लोगों की कुछ भी चिन्ता न करता हुआ सब प्रकार के प्रयत्न करेगा। यदि सफल हो गया तो वह अपने क्षेत्र में एकाधिपत्य प्रतिष्ठापित करके लोकतन्त्र की हत्या कर देगा। यदि असफल हुआ तो उसके लिए लोकतन्त्र रसहीन एवं दुःखदायी हो जायेगा। यदि बहुजन समाज लोकराज्य में अपने सुख की अनुभूति न कर सके तो यही कहना होगा कि वहाँ लोकतन्त्र का बेजान ढाँचा मात्र खड़ा है, आत्मा नहीं।

दूसरे की इच्छा के सामने झुकने की तैयारी में एक खतरा सदैव बना रहता है। जो सज्जन एवं धर्मभीरु होते हैं वे तो सदैव अपनी बात का आग्रह छोड़कर दूसरों की बात मान लेते हैं किन्तु जो दुर्जन एवं दुराग्रही हैं वे अपना हठ नहीं त्यागते। फलतः ऐसे ही लोगों की तूती बोलने लगती है। वे अपनी बात मनवा कर समाज के अगुवा बन जाते हैं तथा धीरे-धीरे लोकतन्त्र एक विकृत रूप में उपस्थित होकर समाज के लिए कष्टदायक हो जाता है। सम्भवतया इसी संकट के सामने रहने के कारण हमारे यहाँ शास्त्रकारों ने लोकमत-परिष्कार की व्यवस्था की। जिस समाज में यह परिष्कार का काम चलता रहेगा, वहाँ सहिष्णु एवं संयमशील व्यक्तियों का मण्डल निरन्तर बढ़ता चला जायगा। यहाँ तक कि इन गुणों से वंचित व्यक्ति क्वचित् ही उपलब्ध हो सकेंगे। यदि कोई अपवाद रहा भी तो वह अपना प्रभुत्व नहीं जमा सकेगा।

किन्तु यह लोकमत-परिष्कार का काम कौन करे ? रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों में यह काम राज्य के द्वारा किया जाता है। मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार

मजदूरों की क्रान्ति के पश्चात् फिर क्रान्ति की सम्भावना है, उसे रोकने के लिए कठोर उपायों के अवलम्बन की आवश्यकता है। साथ ही अभी तक जीवन के जो मूल्य स्थापित हुए हैं वे पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था पर आधारित हैं। उन्हें हटाकर नये प्रगतिवादी मूल्यों की प्रतिष्ठापना करनी होगी। यह कार्य लेनिन ने राज्य को, जो कि सर्वहारा के प्रतिनिधियों एवं क्रान्तिदर्शी महानुभावों के द्वारा चलाया जाता है, सौंपा। किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ लोकमत परिष्कार के नाम पर व्यक्ति की सभी स्वतन्त्रताएँ समाप्त हो गयीं तथा कुछ व्यक्तियों की तानाशाही ही सम्पूर्ण जनता की इच्छा के नाम पर चलने लगी। जो दवा दी गयी, उससे मर्ज तो ठीक नहीं हुआ, हाँ मरीज अवश्य चल बसे। अर्थात् समस्याएँ दोनों ओर हैं। एक ओर अपरिचित लोकमत, जिसकी दिशा कभी सोच-विचार कर निश्चित नहीं होती और दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता की समाप्ति। शेक्सपियर ने अपने नाटक 'जूलियस सीजर' में प्रथम अवस्था का बड़ी अच्छी तरह चित्रण किया है। जो जनता ब्रूटस के साथ होकर जूलियस सीजर के वध पर हर्ष मना रही थी वही थोड़ी देर में ऐण्टोनिको के भाषण के उपरान्त ब्रूटस का वध करने को उद्यत हो गयी। मोबोक्रेसी और ओटोक्रेसी के दोनों पाटों के बीच से डेमोक्रेसी को जीवित रखना एक कठिन समस्या है।

भारत ने इस समस्या का समाधान राज्य के हाथ से लोकमत-निर्माण के साधन छीनकर किया है। लोकमत परिष्कार का कार्य है वीतराग द्वन्द्वातीत संन्यासियों का। लोकमत के अनुसार चलने का काम है राज्य का। संन्यासी सदैव धर्म के तत्त्वों के अनुसार, जनता के ऐहिक एवं आध्यात्मिक समुत्कर्ष की कामना लेकर अपने वचनों एवं निरीह आचरण से जन-जीवन के ऊपर संस्कार डालते रहते हैं। उन्हें धर्म की मर्यादाओं का ज्ञान कराते रहते हैं। उनके समक्ष कोई मोह और लोभ न होने के कारण वे सत्य का उच्चारण सहज ही कर सकते हैं। शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन-मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं। इन मूल्यों का बांध रहने के बाद लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण करके संकट का कारण नहीं बनेगी।

मर्यादाओं के अन्तर्गत क्रिया का नाम ही संयम है। भूखा मरना संयम नहीं अपितु शरीर की आवश्यकता के अनुसार गुण और मात्रा में भोजन करना संयम है। बिल्कुल न बोलना यहाँ तक कि अत्याचारी के विरुद्ध आवाज भी न उठाना

अथवा किसी को सत्परामर्श भी न देना संयम नहीं। वाचाल और गूँगे के बीच संयमी पुरुष आता है और आवश्यकता पड़ने पर बोलता है और अवश्य बोलता है। अपने व्यवहार का यह नियमन तब हो सकता है, जब व्यक्ति को अपने आदर्श की लगन हो तथा अपनी जिम्मेदारी का बराबर भान हो। असंयम और गैर-जिम्मेदारी साथ-साथ चलते हैं। लोकराज्य भी तभी सफल हो सकता है जब एक नागरिक अपनी जिम्मेदारी को समझेगा और उसका निर्वाह करने के लिए क्रियाशील रहेगा। समाज जितना यह समझता जायेगा कि राज्य को चलाने की जिम्मेदारी उसकी है, उतना ही वह संयमशील बनता जायगा। जिस दल को यह लगता है कि आज नहीं तो कल मेरे कन्धों पर राज्य-संचालन का भार आ सकता है वह कभी अपने वायदों और व्यवहार में गैर-जिम्मेदार एवं असंयत नहीं होगा। फिर जनता के ऊपर तो राज्य चलाने की जिम्मेदारी सदैव ही रहती है। समय-समय पर वह अपने प्रतिनिधि के रूप में भिन्न-भिन्न दलों को चुन लेती है। वह यदि जिम्मेदार रही तो दल भी कभी संयम-शून्य नहीं होंगे।

सबसे अधिक महत्त्व है जनता को सुसंस्कृत करने का। जब तक इस काम को करने वाले संगठन एवं महापुरुष राज्य के मोह से दूर, तथा भयविमुक्त रहेंगे– तब तक वह सही दिशा में ही चलता जायेगा।

☆

समाजवाद, लोकतंत्र और हिन्दुत्ववाद

यद्यपि भारत में समाजवादी विचार और समाजवादी पार्टियाँ उस समय से ही विद्यमान हैं, जब से यूरोपीय विचारों ने यहाँ के शिक्षित लोगों को प्रभावित करना प्रारम्भ किया, तथापि सैद्धान्तिक रूप में समाजवाद यहाँ के निवासियों के राजनैतिक या सामाजिक जीवन में अपना कोई विशेष स्थान नहीं बना सका। परन्तु, कांग्रेस के आवड़ी अधिवेशन के पश्चात्, जिसमें कांग्रेस ने समाजवादी समाज को अपना अन्तिम लक्ष्य घोषित किया; स्थिति बदल गयी। जहाँ तक जनसाधारण का प्रश्न है, वह आज भी उससे उतनी ही दूर है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद के लक्ष्य को अपनाये जाने के बाद भी यह जनता का हृदय स्पर्श नहीं कर पाया है। जनता उसके प्रति उत्साहित नहीं है। परन्तु ऐसा समझा जाने लगा है कि सरकार की नीतियाँ उसी के अनुरूप ढलती जा रही हैं और इस कारण जो सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने का विचार करते हैं उन्हें अवश्य ही चिन्ता हो गई है। आज इस विचारधारा के अनुयायियों की संख्या के अनुपात में इसे कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। साथ ही प्रधानमन्त्री की लोकप्रियता और सम्मान के कारण कुछ समय के लिए तो ऐसा लगने लगा है मानो समाजवाद यहाँ की जनता का सर्वप्रिय जीवन दर्शन हो गया हो। आज अपने आपको समाजवादी कहना, एक फैशन सा लगता है। समय के प्रवाह में बहने वाली राजनीतिक पार्टियों में तो इस बात की होड़ सी लगी है कि उनमें से कौन अपने को समाजवाद का बड़ा पुरस्कर्त्ता सिद्ध कर सकता है। हिन्दू महासभा भी हिन्दू समाजवाद की बातें करने लगी है। वैदिक विचारकों ने भी पुराना साहित्य कुरेद कर "वैदिक समाजवाद" की नयी खोज कर डाली है।

समाजवाद के विभिन्न स्वरूप

इस देश में कांग्रेस, समाजवाद का नारा बुलन्द करने वाली प्रथम पार्टी नहीं

है। कांग्रेस द्वारा समाजवाद स्वीकार किये जाने के पूर्व भी यहाँ समाजवादी पार्टियाँ थीं और आज भी हैं। विभिन्न समाजवादी पार्टियों के असन्तुष्ट लोग भी अपने को समाजवादी ही कहते हैं। इतना ही नहीं, उनका तो दावा यह होता है कि वे जिस समाजवाद को मानते हैं, वही अधिक शुद्ध है। इस स्थिति ने समाजवाद के बारे में और भी अधिक भ्रम बढ़ा दिया है। यूरोप में वैसे भी समाजवाद के अनेक प्रकार विद्यमान हैं। रूजवेल्ट, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन सभी अपने आपको समाजवादी कहते थे। ऐसे भी लोगों की कमी नहीं, जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष राजनीति से दूर रहने के बाद भी अनेक प्रकार के समाजवादी सिद्धान्तों की रचना कर डाली है। भारत में भी इन सभी प्रकार के समाजवादी पन्थों के अनुयायी विद्यमान हैं। कुछ इस प्रकार के भी प्रयास यहाँ होते रहे हैं जिसमें यूरोपीय समाजवाद को भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के अनुरूप ढालकर स्वीकार करने का आग्रह रहा हो।

बाबू जयप्रकाश नारायण आज भी समाजवादी बने हुए हैं। एम.एन. राय ने अपने जीवन के अन्तिम काल में समाजवाद का पूर्णतः त्याग कर दिया था तथापि मृत्यु के समय भी वे रेडिकल सोशलिस्ट ही कहलाये। उन राजनीतिज्ञों के साथ-साथ जो बिना समझे-बूझे किसी भी समय कोई भी बात कह सकते हैं, अन्य सिद्धान्तवादी और राजनीतिज्ञों ने भी इस समाजवाद के बारे में ऐसी धारणाएँ पैदा कर दी हैं कि लोग यही नहीं समझ पाते कि वे हैं कहाँ पर ?

प्रेरणा का मूल स्रोत

एक बार ऐसा व्यंग्य किया गया था कि समाजवाद कोई जीवन-दर्शन नहीं अपितु एक अटपटी वृत्ति मात्र है। यदि हम समाजवादियों के विचारों का विश्लेषण करें तो बहुत अंशों तक यह उक्ति सही प्रतीत होगी। सभी समाजवादियों की यह एक सर्वमान्य अभिलाषा है कि साधारण मनुष्य का जीवन स्तर उठाया जाय। वे उन लोगों के विरुद्ध, जिन्हें वे कामचोर मानते हैं या मजदूरों के उचित लाभांशों की प्राप्ति में बाधक समझते हैं, मेहनतकश मजदूरों का पक्ष ग्रहण कर लेते हैं। हमें शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि स्वामी विवेकानन्द जी भी अपने आपको समाजवादी कहते थे और अपनी मान्यताओं की पुष्टि में बहुत कुछ इसी प्रकार के तर्क भी देते थे। एक भाषण में उन्होंने कहा था कि, "मैं भी एक समाजवादी हूँ। इसलिए नहीं कि समाजवाद कोई पूर्ण दर्शन है, अपितु इसलिए कि मैं समझता हूँ

कि भूखे रहने की अपेक्षा एक कौर मात्र प्राप्त करना भी अच्छा है। सुख-दुःख का पुनर्विभाजन सचमुच ही उस स्थिति से अधिक श्रेयस्कर होगा जिसमें निश्चित व्यक्ति ही सुख या दुःख के भागी होते हैं। इस कष्टपूर्ण संसार में प्रत्येक को अच्छा दिन देखने का अवसर मिलना ही चाहिए।" बुभुक्षितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और समाज में उन्हें समान स्तर पर सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करा देने की यह इच्छा आज भी प्रत्येक समाजवादी को प्रेरणा देती है।

मार्क्स का दर्शन अपूर्ण

उनकी सदिच्छा सराहनीय है। इस दुःख और कष्टों से परिपूर्ण विश्व में, असमानता, अन्याय, दुःख, कष्ट, उत्पीड़न, प्रताड़न, दासत्व, शोषण, क्षुधा और अभाव को देखकर कोई भी व्यक्ति जिसे मानवीय अन्तःकरण प्राप्त है, समाजवादी वृत्ति अपनाये बिना नहीं रह सकता। परन्तु समाजवाद यहीं तक सीमित नहीं है। यह ठीक है कि वह इस दुःखपूर्ण स्थिति का अन्त चाहता है। उसने स्थिति का विश्लेषण किया है, रोग का निदान किया है और उसके लिए औषधि की योजना भी की है। यहाँ पर उन्हें मार्क्स का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। उसने अपने समकालीन समाजवादी विचारों को एकत्रित कर एक ऐसी विस्तृत विचार-सरणि प्रस्तुत की जो आगे आने वाली पीढ़ियों को भी आकर्षित करने की क्षमता रखती थी। मार्क्स से विचार-भिन्नता रखने वाले समाजवादी भी उसके अकाट्य तर्कों का खण्डन नहीं कर पाते थे। उसने एक करणीय योजना प्रस्तुत की और बोल्शेविकों ने उस स्वप्न को साकार बनाने हेतु सफलतापूर्वक रूस की सत्ता पर अधिकार कर लिया। बोल्शेविक क्रान्ति से लेकर आज तक का रूस का इतिहास विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सफलताओं के बावजूद इस पद्धति की अपूर्णता का ही द्योतक रहा है।

लोकतन्त्र पर हमला

समाजवाद का पहला हमला हुआ लोकतन्त्र पर। लौह आवरण के पीछे रहने वालों को छोड़कर समस्त विश्व के समाजवादी विचारक आतंकित हो उठे। उन्हें लोकतन्त्र में आस्था थी। सच पूछा जाय तो लोकतान्त्रिक आदर्शों के कारण ही उन्हें जनसाधारण के प्रति सहानुभूति थी और उसके लिए समानता का स्थान प्राप्त करने की बात करते थे। लोकतन्त्र ने ही उन्हें राजनैतिक समानता प्रदान की थी। पर वैज्ञानिक अन्वेषणों और यन्त्रीकृत उत्पादन पद्धति ने उन्हें आर्थिक विषमता के

गढ़े में ढकेल दिया। परिणामतः ऐसी राजनैतिक परिस्थिति में समानता का कोई महत्त्व न रहा। मार्क्स ने वर्गविहीन समाज का नारा लगाया। अन्तरिम अवधि तक मजदूरों के अधिनायकवाद की बात कही गयी। इसमें संदेह की पूरी गुंजाइश थी। लोगों को एक संदिग्ध वस्तु की प्राप्ति के लिए उस चीज (राजनैतिक समानता) का त्याग करने को कहा गया जो उन्हें पहिले से ही प्राप्त थी। उन्हें इस बात की किंचित् भी कल्पना नहीं थी कि समाजवाद उन्हें पहिले से ही प्राप्त वस्तु भी छीन लेगा। वे तो पहिले से ही अभावग्रस्त थे। समाजवाद के द्वारा उन्हें कुछ प्राप्त होना चाहिए था, न कि उनके पास का ही छीना जाना। किन्तु कुछ देने के पूर्व ही समाजवाद ने उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता और राजनैतिक समानता का भी अपहरण कर लिया। २८ अप्रैल सन् १९१९ में ही प्रिंस क्रोपाटकिन ने पश्चिमी यूरोप के मजदूरों के नाम एक पत्र में लिखा–

I owe it to you to say frankly that according to my view, this effort to build a communist republic on the basis of a strongly centralised state, communism under the iron law of party dictatorship is bound to end in failure. We are learning to know in Russia how no to introduce communism. As long as the country is governed by a party dictatorship, the worker and peasant's council evidently lose their entire significance, It (USSR) develops a bureaucracy so formidable, that French bureaucracy, which requires the help of fourty officiales to sell a tree, broken down by a storm on the national high way, is a mere begalle in comparision.

"मैं आपको स्पष्ट रूप से यह बताना अपना दायित्व समझता हूँ कि मेरे विचार से सुदृढ़ केन्द्रित शासन व्यवस्था के आधार पर, दलीय तानाशाही के फौलादी शिकंजे के नीचे साम्यवादी गणतन्त्र निर्माण करने का प्रयास असफलता के रूप में ही सामने आयेगा। रूस से हम इस बात को सीख रहे हैं कि साम्यवाद को प्रवेश करने से कैसे रोका जाये ? जब तक देश में दलीय तानाशाही का शासन कायम है, तब तक किसान और मजदूर परिषदें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं बना सकतीं। वे अपना समस्त वैशिष्ट्य ही खो बैठेंगी। रूसी गणराज्य आज एक ऐसी अभेद्य नौकरशाही को जन्म दे रहा है जिसके सम्मुख वह फ्रांस की नौकरशाही भी मात हो जायेगी जिसमें कहीं रास्ते में आंधी से गिरे हुए पेड़ को बेचने के लिए भी चालीस सरकारी अधिकारियों की आवश्यकता पड़ती है।

गोली का पहला शिकार लोकतंत्रवादी होगा

यूरोपीय समाजवादियों के नये प्रयासों ने उस तत्त्व को जन्म दिया, जिसे आज जनतांत्रिक समाजवाद का नाम दिया गया है। वे कम्युनिस्टों से मतभिन्नता रखते हुए यह प्रतिपादित करते रहे कि समाजवाद का प्रादुर्भाव जनतांत्रिक ढंग से होना चाहिए। वे एक साथ समाजवाद और जनतंत्र दोनों की आराधना करना चाहते हैं। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवाद और जनतंत्र एक साथ पनप भी सकते हैं। सिद्धान्तवादी इस प्रश्न पर आशान्वित हैं, पर प्रगतिवादी इस पर विश्वास नहीं करते। समाजवाद इस बात का हामी है कि उत्पादन के समस्त स्रोत राज्य के आधीन होने चाहिए। चूँकि समाजवादी यह समझते हैं कि समाज का राजनैतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोतों के द्वारा ही ढलता है, अतः समाजवादी व्यवस्था में राज्य का आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनैतिक एवं अन्य क्षेत्रों में भी, पूर्ण वर्चस्व रहना आवश्यक है। इससे एक ऐसी स्थिति पैदा होगी जब उन लोगों के विरुद्ध जो शासन में हैं लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना संभवनीय नहीं होगा। समाजवादी बन्दूक की गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कोई लोकतंत्रवादी ही होगा। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। शेर-बकरी का एक ही घाट पर पानी पी सकना असंभव है।

सहअस्तित्व असम्भव

आज समाजवादी खेमे में व्याप्त भ्रमपूर्ण स्थिति के लिए बहुत अंशों तक यह सिद्धान्त ही जिम्मेदार है। अब तक कोई भी विचारक ऐसा सर्वांगपूर्ण दोषरहित चित्र प्रस्तुत करने में सफल नहीं हो सका है जिसमें इन दोनों तत्त्वों का सहअस्तित्व सम्भव हो सके। इसमें भी, यदि हम लोकतन्त्र के विभिन्न स्वरूपों और मर्यादाओं के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशों के विभिन्न सामाजिक, सांस्कृतिक ढाँचे का और भिन्न-भिन्न प्रकार के भौतिक एवं आर्थिक विकास के स्तरों का विचार करें तब तो यह भ्रम के बादल और भी घनीभूत हो जाते हैं। इस भ्रमजाल की जटिलता के कारण यह गुत्थी इतनी उलझती जाती है कि उसका सुलझना असंभव सा हो जाता है।

गैर समाजवादी देशों ने भी समाजवादियों के भ्रम को बढ़ाने का ही कार्य किया है। विगत वर्षों में अपनी उदारवादी नीतियों एवं नवीन आर्थिक चिंतन के

कारण उन्होंने समाजवादियों को हतप्रभ सा कर डाला है। आज अमेरिका या इंग्लैण्ड का सर्वसाधारण व्यक्ति, किसान और मजदूर जिसे साम्यवादी परिभाषा के अनुसार सर्वहारा कहा जाता है, सौ वर्ष पूर्व की तथाकथित उत्पीड़ित अवस्था में नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के आदर्श प्रस्थापित हो रहे हैं। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही प्रकार के देशों के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी असत्य सिद्ध हुई है। कल के पूँजीवादी देशों ने अपनी पद्धति में विकास किया है और आज वे भौतिक विकास में समाजवादियों से टक्कर लेने को उद्यत हैं, पर समाजवाद आज भी उसी स्थान पर अड़ा हुआ है जहाँ से उसने अपनी यात्रा प्रारम्भ की थी। यदि उसने कुछ पग आगे बढ़ाये भी हैं तो वे सही दिशा में नहीं बढ़े हैं। इसके विपरीत पूँजीवादी देशों में लोकतंत्र होने के कारण अपनी भूलों को सुधारने एवं नवीन बातों को स्वीकार करने की सिद्धता रहती है। पर समाजवादियों की समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में इस प्रकार के लचीलेपन का अभाव है। यह विचारधारा किसी प्रकार के नवीन चिन्तन की प्रेरणा नहीं देती। **मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अन्धविश्वासों पर आधारित मजहब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी नये स्वतन्त्र विचारों से दूर ही रहना पसन्द करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टों के शब्दकोश में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भी रहती हैं। परन्तु विचारशील मानव विचाररहित नहीं हो सकता। यदि उसकी विचार तरंगों को योग्य दिशा देने की कोई योजनाबद्ध व्यवस्था न रही तो उसका अनिवार्य परिणाम चतुर्दिक भ्रम के रूप में सामने आये बिना नहीं रह सकता।**

यह कैसा विरोध ?

आज भारत में समाजवाद के बारे में जो वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है वह प्रमुख रूप से राजकीय उद्योगों के विस्तार की अनिवार्यता या व्यर्थता के ऊपर ही केन्द्रित है। स्वतन्त्र उद्योगों के पुरस्कर्त्ता एवं समाजवादी विचारक एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोंककर खड़े हो गये हैं। पर साथ ही एक मजेदार तथ्य यह है कि दोनों एक दूसरे के लिए पर्याप्त और न्यायसंगत क्षेत्र खाली छोड़ने के लिए तत्पर भी हैं। अविकसित अर्थ-व्यवस्था में सरकार को कुछ ऐसे उद्योगों को भी अपने हाथ में लेना पड़ता है जो कदाचित् साधारण अवस्था में स्वतन्त्र लोगों के हाथ में छोड़े जा सकते थे। साथ ही किसी नियोजित अर्थ-व्यवस्था में स्वतन्त्र उद्योगपतियों को

वैसी खुली छूट भी नहीं दी जा सकती जैसी शताब्दियों से पश्चिम के लोग उपभोग करते रहे हैं। सच पूछा जाय तो यह स्पर्द्धा यदि नियंत्रित रखी गयी, तो दोनों में योग्य सन्तुलन स्थापित करने में सहायक हो सकती है। समस्याओं का सामना करते समय समाजवादी, स्वतंत्रों की श्रेणी में आ बैठता है और स्वतन्त्र समाजवादी के खेमे में।

साध्य के अनुरूप साधन हों

पर प्रमुख समस्या यह नहीं है कि हम समाजवाद को स्वीकार करें या उद्योगों की स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों को। समाजवाद और लोकतंत्र की आपस में तुलना नहीं की जा सकती, पर हमारे लिए ये ही विकल्प के रूप में नहीं है। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। तब फिर साध्य क्या हो ? हमें पहले गन्तव्य निर्धारित कर, फिर मार्ग का निर्धारण करना चाहिए। सभी विचारशील मनुष्यों ने मानव कल्याण को साध्य माना है। दुर्भाग्य यह है कि अभी तक मनुष्य, मनुष्य को ही समझने में असमर्थ रहा है। मानव को सुखी व सम्पन्न बनाने के प्रयास में समाजवाद एवं लोकतंत्र, दोनों ने ही उसको एक वीभत्स स्वरूप दे डाला है। उन्होंने उसकी समस्त विशेषताओं को उससे छीन लिया है। रेनेफुलप ने 'दि ह्युमनाइजेशन इन माडर्न सोसाइटी' नामक अपनी पुस्तिका में विवेचन किया है। वह लिखता है "Democracy, although it gave us right to vote, trial by jury, a free press, religious freedom, the freedom to chose their jobs and the freedom to speak their mind, it also gave us the economic man." (यद्यपि, जनतंत्र ने हमें मत देने का अधिकार, न्याय पाने का अधिकार, विचार स्वातंत्र्य, धार्मिक स्वातंत्र्य, स्वयं का पेशा निर्धारित करने की स्वतन्त्रता और भाषण स्वातन्त्र्य प्रदान किया है, पर साथ ही उसने हमें 'आर्थिक मानव' की कल्पना भी दी है।)

इस कल्पना ने पूँजीवाद को जन्म दिया जहाँ अधिकाधिक उत्पादन क्षमता बढ़ाने पर तो अत्यधिक बल दिया गया पर सोद्देश्य जीवन व्यतीत करने की क्षमता बढ़ाने की ओर पूर्ण दुर्लक्ष्य कर दिया गया। दूसरी ओर समाजवाद या साम्यवाद ने सामूहिक सुरक्षा एवं मजदूर वर्ग के हितों के संरक्षण का नारा लगाया, पर इसी के साथ-साथ उसने 'एक युद्ध-पिपासु मानव' को जन्म दिया। यह युद्धलोलुप मानव समाजवादी राज्य की ही देन है, उसे न विचार करने की स्वतंत्रता प्राप्त है न स्वयं निर्णय करने की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानव जीवन का मूल्य एक

निरीह पशु से अधिक नहीं आँका जाता।

मशीन की गुलामी का अन्त आवश्यक

समाजवाद और लोकतंत्र दोनों ने ही मानव के भौतिक स्वरूप और आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है और दोनों की आधुनिक विज्ञान एवं यान्त्रिक उन्नति पर अत्यधिक श्रद्धा है। दोनों ही इन वर्तमान आविष्कारों के शिकार से हो गये हैं। परिणाम यह है कि उत्पादन के साधनों का निर्धारण, मानव कल्याण और उसकी आवश्यकताओं के अनुसार नहीं किया जा रहा है बल्कि उनका निर्धारण यन्त्रों के अनुसार करना पड़ रहा है। उत्पादन की केन्द्रित व्यवस्था में, फिर उसका नियन्त्रण चाहे व्यक्ति द्वारा हो अथवा राज्य द्वारा, मानव के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। मशीन के एक पुर्जे से अधिक उसका महत्त्व ही नहीं रहता। यदि हमें मनुष्य के मनुष्यत्व की रक्षा करनी है तो हमें उसे मशीन की गुलामी से मुक्त करना होगा। आज व्यक्ति मशीन पर शासन नहीं करता, मशीन मनुष्य पर शासन कर रही है। इस मशीन-प्रेम के मूल में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को अधिकाधिक मात्रा में तृप्त करने की भावना निहित है। पर हम यह न भूलें कि केवल भौतिक समृद्धि मात्र से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। भौतिक साधनों से सम्पन्न राष्ट्रों की समस्याएँ भी आज हमारे सम्मुख हैं। हमें सम्पूर्ण मानव जीवन का विचार कर, उत्पादन, वितरण और उपभोग को एक इकाई मानकर चलना पड़ेगा। हमें एक ऐसी पद्धति का निर्माण करना होगा, जिसमें मनुष्य उत्पादन और उपभोग करते समय एक सार्थक जीवन व्यतीत करने का भी ध्यान रखता है। मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं का समुच्चय मात्र ही नहीं है। उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी हैं। जो जीवन-पद्धति मानव-जीवन के इस आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा करती हो वह कदापि पूर्ण नहीं हो सकती। यहाँ हमें इस बात का स्मरण रखना होगा कि भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक प्रगति की कल्पना केवल हवाई उड़ान ही नहीं है; मानव की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का दायित्व भी निभाना ही होगा। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों ने ही एकांगी मार्ग स्वीकार किया है, और मनुष्य की इन दो भिन्न प्रवृत्तियों का समुचित सामंजस्य बिठाकर उसके व्यक्तित्व का विकास करने के स्थान पर एक भ्रमपूर्ण स्थिति पैदा कर विभिन्न शक्तियों के लिए एक युद्धस्थल तैयार कर दिया है।

तरणोपाय

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवनादर्श ही हमें इस संकट से उबार सकते हैं। विश्व की समस्याओं का उत्तर समाजवाद नहीं, हिन्दुत्ववाद है। यही एक ऐसा जीवन-दर्शन है जो जीवन का विचार करते समय उसे टुकड़ों में नहीं बाँटता, अपितु सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानकर उसका विचार करता है। यहाँ पर हमें हिन्दू जीवनादर्शों का विचार करते समय कुछ निष्प्राण कर्मकांड के साथ अथवा हिन्दू समाज में व्याप्त अनेक अहिन्दू व्यवहारों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए। साथ ही यह समझना भी भारी भूल होगी कि हिन्दुत्व वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति का विरोधी है। विज्ञान और यन्त्र इन दोनों का उपयोग इस पद्धति से होना चाहिए जिससे वे हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन-पद्धति के अनुरूप हों।

महात्मा गांधी के विचारों का अनुसरण कर विनोबा, जयप्रकाश नारायण और राजगोपालाचार्य ने ट्रस्टीशिप का विचार सम्मुख रखा है। यह हिन्दू जीवन-पद्धति के अनुसार ही है। यह एक ऐसा विचार है जो समाजवादी और गैर-समाजवादी दोनों ही समाजों के लिए समान रूप से उपयोगी हो सकता है। यदि हम पाश्चात्य-यन्त्र प्रणाली का अन्धानुकरण करते रहे तो सर्वोदय या समाजवाद दोनों ही न हमारी संस्कृति का संरक्षण कर सकेंगे न हमारे सम्मुख उपस्थित समस्याओं का समाधान ही कर सकेंगे। हमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक सभी मोर्चों पर इस यन्त्रवाद का सामना करना पड़ेगा। **हमें धर्मराज्य, लोकतंत्र सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्कर्ष ही हमें एक ऐसा जीवन दर्शन उपलब्ध करा सकेगा जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिये, हिन्दुत्ववाद, मानवतावाद अथवा अन्य कोई नया वाद, किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह संचारित कर सकेगा। अन्य मार्ग और विचार भारत की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं पड़ते- वे इस देश के जीवन को विकास के स्थान पर विकृति और विनाश की ओर ले जायेंगे। सम्भव है, विभ्रान्ति के चौराहे पर खड़े विश्व के लिए भी यह मार्गदर्शक का काम कर सके।**

☆

लोकतंत्र का भारतीयकरण

वर्तमान युग जनतंत्र का युग है। प्रत्येक शासक, चाहे वह किसी भी रीति से सत्तारूढ़ हुआ हो अपना शासन जनता के नाम पर ही चलाता है। जिन देशों में राजतंत्र है वहाँ भी अब राजा को ईश्वर का अवतार न मानकर जनता की सामूहिक सत्ता का प्रतीक मानते हैं। राजा के अधिकार ईश्वर-प्रदत्त नहीं अपितु जनता से प्राप्त हैं और जनता का उपयोग जनता की सेवा के लिए ही कर सकता है। रूस आदि देशों के अधिनायक भी अपने को जनतंत्र का हामी घोषित करते हैं और अपने शासन के प्रति किसी न किसी प्रकार जनता की अनुकूलता व्यक्त कराते रहते हैं।

जनतंत्र हमारे लिए नया नहीं

भारत ने अपने लिए जनतंत्रीय शासन-व्यवस्था चुनी है। जिन शब्दों में हमने अपने संविधान में इस व्यवस्था की व्याख्या की है वह भले ही नये हों किन्तु जनतंत्र हमारे लिए नया नहीं है। वैदिक 'सभा' और 'समिति' का गठन जनतंत्रीय आधार पर ही होता था तथा मध्यकालीन अनेक गणराज्य पूर्णतः जनतंत्रीय थे। राजतंत्रीय व्यवस्था में भी हमने राजा को मर्यादाओं में जकड़कर प्रजानुरागी ही नहीं, प्रजा (जन) अनुगामी भी माना है। इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करने वाले नृपतियों के उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं किन्तु उनके विरुद्ध जनता का विद्रोह तथा उनको आदर्श शासक न मानकर हीनता की श्रेणी में गिनने के प्रयत्नों से ही हमारी मौलिक जनतंत्रीय भावना की पुष्टि होती है। जनता में शक्ति और संगठन के अभाव के कारण उसने निरंकुश शासन कुछ काल के लिए भले ही बर्दाश्त कर लिया हो किन्तु उसने कभी भी उसकी सराहना नहीं की। आज जब हमने जनतंत्रीय व्यवस्था को अंगीकार किया है तो उसमें हमारी आत्मा की पूर्णाभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसी में जन-तुष्टि और जन-कल्याण निहित है। किन्तु इस अभीष्ट की

सिद्धि के लिए हमें बहुत कुछ करना होगा। अभी तो हम अपने उद्दिष्ट से कोसों दूर हैं। पिछली दो दशाब्दियाँ जनतंत्र के लिए सफल पोषक नहीं रहीं।

वास्तविक जनतंत्र क्या है ?

जनतंत्र किसी बाहरी ढाँचे पर नहीं निर्भर करता। बालिग मताधिकार तथा निर्वाचन यद्यपि जनतंत्र के बहुत बड़े अंग हैं किन्तु इनसे ही जनतंत्र की स्थापना नहीं हो जाती। रूस में दोनों ही विद्यमान हैं, किन्तु राजनीति-विशारद उसे जनतंत्रीय मानने को तैयार नहीं। मताधिकार तथा निर्वाचन के साथ एक भावना भी जनतंत्र के लिए आवश्यक है। निर्वाचन से हमें बहुमत तथा अल्पमत का ज्ञान हो सकता है, किन्तु बहुमत का शासन ही जनतंत्र नहीं, उसे हम अधिक से अधिक बहुतंत्र कह सकते हैं। ऐसे तंत्र में तो जनता का एक वर्ग सदैव ऐसा रहेगा जिसकी आवाज चाहे वह सही ही क्यों न हो, दबा दी जायेगी। उसकी आत्मा शासन के प्रति सतत विद्रोहशील रहेगी। जनतंत्र का यह स्वरूप 'सर्वजनसुखाय' 'सर्वजनहिताय' नहीं हो सकता। 'बहुजन सुखाय' तथा 'बहुजन-हिताय' भले ही हो किन्तु वह शासन जिसमें जनता का एक वर्ग, जो अल्पमत में ही क्यों न हो, दुखी हो और यह अल्पमत १०० में से ४९ का भी हो सकता है, कभी भी आदर्श शासन नहीं कहा जा सकता। अतः भारतीय जनतंत्र की कल्पना में निर्वाचन, बहुमत, अल्पमत आदि बाहरी व्यवस्थाओं के स्थान पर सभी मतों के सामंजस्य तथा समन्वय पर ही बल दिया गया है। विरुद्ध मत रखने वाला एक भी व्यक्ति क्यों न हो, हमें उसके मत का आदर नहीं बल्कि उसका योग्य समावेश अपनी कार्य-पद्धति में करना होगा। इंग्लैण्ड में जहाँ आज की जनतंत्रीय पद्धति ने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है; विरोधी दल के नेता को सरकारी खजाने से वेतन दिया जाता है। खेल के लिए जैसे दो दलों का होना आवश्यक है वैसे संसद् के दोनों दलों को आवश्यक समझा जाता है। शासन की नीतियों पर भी विरोधी दल सतत प्रकाश डालता रहता है।

सहिष्णुता का आधार

सामंजस्य और समन्वय की इस भावना के लिए सहिष्णुता की आवश्यकता है। हम कह सकते हैं कि जनतंत्र की भागीरथी का आद्य स्रोत सहिष्णुता ही है। इसके अभाव में निर्वाचन तथा संसद् आदि की जनतंत्रीय व्यवस्थाएँ प्राणहीन शरीर की भाँति हैं। सहिष्णुता का अर्थ दूसरे के प्रति आदर का भाव रखकर उसे

अंगीकार तक करने की तैयारी रखना है। भारतीय संस्कृति का आधार ही सहिष्णुता है। इसी से जनता-जनार्दन की आत्मा का स्वर पहचानने की शक्ति प्राप्त होती है। जो इस स्वर को पहचान सकता है तथा उसके अनुरूप क्रिया-कलापों को ढाल सकता है, वही सच्चा जनतंत्रीय शासक है।

भारत का वर्तमान जनतंत्र

भारत की जनता ने अपनी परम्परा के अनुरूप जनतंत्र को हृदयंगत किया है, जिसका प्रमाण केवल गत चुनावों की एक बात से लग जाता है कि विश्व का सबसे बड़ा चुनाव होते हुए भी अनेक आशंकाओं के विपरीत कहीं भी अशान्ति की घटनाएँ नहीं हुईं। चुनाव-प्रचार में चाहे जितना तूफान उठा हो, चुनाव का कार्य साधारण तनातनी के अतिरिक्त शांति से ही सम्पन्न हुआ। चुनाव में सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध अनेक अनियमितताओं की शिकायत होते हुए भी चुनाव के परिणामों को सभी दलों ने खिलाड़ी मनोवृत्ति से स्वीकार किया। किन्तु हम इतने से संतोष नहीं कर सकते, विशेषकर तब जबकि चुनावों के बाद का वातावरण जनतंत्र के विकास के लिए बराबर बाधक बनता जा रहा है।

चुनावों के बाद कांग्रेस का आचरण

प्रथम चुनाव में कांग्रेस भारी बहुमत से जीती और पेप्सू को छोड़कर सभी राज्यों में तथा केन्द्र में उसके मंत्रिमण्डल बन गये। इस अनपेक्षित विजय से कांग्रेस जन अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग होने के स्थान पर उदासीन हो गये। सत्तारूढ़ दल का कर्त्तव्य है कि वह विरोधी दल के विचारों का आदर कर समन्वय की भावना से शासन करे किन्तु कांग्रेस के शासन में इस भावना का अभाव दृष्टिगोचर होता है। फलतः उसका शासन केवल बहुमत का शासन मात्र रह गया है। वह जनता का राज्य नहीं बन पाया है। विरोधी मतों के प्रति अवहेलना का भाव उस समय और भी खटकने लगता है, जब घोर असहिष्णुता का परिचय देते हुए अपने सभी प्रतिपक्षियों को देशद्रोही तक करार दे दिया जाता है। स्पष्ट है कि किसी भी देशद्रोही का फाँसी के तख्ते के सिवाय और कोई स्थान नहीं हो सकता किन्तु संसद् के उत्तरदायित्वपूर्ण सदस्यों तथा देश की राष्ट्रीय संस्थाओं को इस प्रकार संबोधित करना कभी भी जनतंत्रात्मक भावना के अनुकूल नहीं कहा जा सकता।

कांग्रेस शासन की इस प्रवृत्ति का कारण उसकी अपने भविष्य के संबंध में आशंका के साथ व्यवस्थापिकाओं एवं उसके बाहर उसको प्राप्त समर्थन का भारी अन्तर भी है। जहाँ संसद् और विभिन्न विधान सभाओं में उसे कुल मिलाकर ७२ प्रतिशत स्थान प्राप्त हुए, वहाँ उसको कुल मतों का २३ प्रतिशत तथा डाले हुए मतों का ४५ प्रतिशत ही प्राप्त हुआ। फलतः संसद् की आवाज तथा देश की आवाज में भारी अन्तर हो गया। देश में जिस आवाज से आकाश गूँज उठता है, वही स्वर संसद् में क्षीण हो जाता है तथा इसके विपरीत संसद् का गुरु गंभीर निनाद बाहर सुनाई भी नहीं देता। यह भी जनतंत्र के लिए बहुत बड़ा खतरा बन गया है। विशेषकर तब जबकि शासक बाहर की आवाज को सुनने के लिए ध्वनि-नियंत्रित कमरों में बैठ जाता है अथवा उसकी आवाज को दबाने के लिए कानून का सहारा लेता है। अन्दर और बाहर के इस अंतर को मिटाने के लिए फ्रांस आदि देशों ने समानुपातिक प्रतिनिधित्व की निर्वाचन पद्धति स्वीकार की है जिसके अनुसार प्राप्त मतों के अनुपात में ही किसी दल को स्थान प्राप्त होते हैं। इस पद्धति से अनेक दलों को प्रतिनिधित्व तो मिल जाता है किन्तु कोई भी सुदृढ़ सरकार बनाना कितना कठिन होता है, इसका अंदाजा देगाल से पूर्व फ्रांस की आये दिन अपदस्थ होने वाली सरकारों की दुर्दशा से ही लगाया जा सकता है। अतः इसका व्यावहारिक मार्ग शासक की मनोवृत्ति में परिवर्तन ही है।

दलीय अनुशासन की सीमाएँ

जनता के वास्तविक मत और सरकार की नीति में खाईं और भी दृढ़ पड़ जाती है, जब सत्तारूढ़ दल से सदस्य अपना मत प्रामाणिकता और निर्भयता से व्यक्त नहीं करते। दलीय अनुशासन दल की सुस्थिति ही नहीं बल्कि दलगत आधार पर शासन-व्यवस्था के लिए भी आवश्यक है। किन्तु जब अनुशासन चीनी स्त्रियों के जूते के समान बुरी तरह जकड़ ले तो उसमें व्यक्ति तथा दल या देश– दोनों का विकास रुक जाता है। जनतंत्र कम से कम वहाँ पनप ही नहीं सकता। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जनता के लिए नितान्त आवश्यक है। यह स्वतन्त्रता सत्तारूढ़ दल के सदस्यों के लिए ही चाहिए। आज यह स्थिति नहीं। अन्य प्रजातंत्रीय देशों की परम्पराओं के प्रतिकूल कांग्रेस दल का सचेतक प्रवर समिति तक में भी अपने अधिकार का प्रयोग करता है। फलतः इन समितियों में विरोधी सदस्यों की उपस्थिति शिष्टाचार मात्र होती है।

समाचार पत्रों तथा मंचों का विकास

जनतंत्र के लिए समाचार पत्रों तथा सभा के मंचों के भी सुव्यवस्थित विकास की आवश्यकता है। आज यह कहना कठिन है कि देश के अधिकांश पत्र जनता की अथवा अपनी ही सच्ची राय प्रकट करते हैं।

दलों का दायित्व

कांग्रेस तथा अन्य दलों की स्थिति भी आज जनतंत्र के विकास के लिए उपयुक्त नहीं है। आज किसी भी दल की पहुँच जनता तक व्यापक रूप में नहीं है। रचनात्मक कार्य का सभी जगह अभाव है। फलतः आंदोलनों, प्रचार एवं बड़े प्रश्नों के बलबूते ही देश के राजनीतिक दल जिन्दा रहना तथा बढ़ना चाहते हैं। सुदृढ़ नींव न होने के कारण हर प्रश्न को उपस्थित करते समय दल की मान तथा प्रतिष्ठा का प्रश्न आकर खड़ा हो जाता है। कांग्रेस शासक विरोधियों एवं आन्दोलनकारियों की बातों से सहमत होते हुए भी उन्हें कार्यान्वित करने के लिए केवल इसीलिए तैयार नहीं होते कि इस प्रकार उनकी प्रतिष्ठा की हानि तथा विरोधियों का मूल्य बढ़ जाता है। रचनात्मक कार्य का सुदृढ़ आधार होने पर भी किसी प्रकार की झूठी प्रतिष्ठा का प्रश्न खड़ा नहीं होता। आज जनता ने चाहे जनतंत्र को स्वीकार कर लिया हो किन्तु राजनीतिक दलों ने अपनी पात्रता सिद्ध नहीं की है।

आवश्यकता है कि देश के सभी दल जनतंत्र के स्वस्थ विकास के लिए प्रयत्नशील रहें। सत्तारूढ़ दल का दायित्व इस दृष्टि से सर्वाधिक है।

☆

अर्थनीति का भारतीयकरण

वर्तमान युग में आर्थिक समस्या अत्यन्त विषम हो उठी है। इस समस्या को हल करने के विविध प्रकार पश्चिम के विद्वानों ने रक्खे हैं। किन्तु इन सभी का दृष्टिकोण एकांगी ही रहा है। उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण अमेरिका आदि देशों में पूँजीवाद का प्रसार हुआ। नवाविष्कृत-यन्त्र इस वृद्धिंगत उत्पादन के कारण बने और इन यन्त्रों के स्वामी ही उत्पादन के स्वामी भी बन गये। लाभ में जब श्रमिकों को भाग नहीं मिला तब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और उन्होंने एक नयी प्रणाली-समाजवाद या साम्यवाद-का विकास किया, जिसमें पुनः वितरण पर ही अधिक बल दिया गया और इसके लिए राज्य द्वारा व्यक्ति को कुचल कर भी रख दिया गया।

लेकिन उपभोग की ओर पश्चिम के विद्वानों का ध्यान नहीं गया, यद्यपि उपभोग ही उत्पादन और वितरण दोनों की धुरी है। पश्चिम ने अधिकाधिक उपभोग के अपने पुराने सिद्धान्त को ही चलने दिया और उसमें संशोधन की जरूरत नहीं समझी। वास्तविकता यह है कि अधिकाधिक उपभोग का सिद्धान्त ही मनुष्य के दुःखों का कारण है। उपभोग की लालसा यदि पूरी की जाय तो वह बढती चली जाती है। वर्ग-संघर्ष, जिसके ऊपर समूचा साम्यवाद खड़ा है, ऐसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है। भारतीय मतवाद जब वर्ग-संघर्ष का खण्डन करता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियन्त्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग के बजाय न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य की प्रकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में संस्कृति का कार्य है। इसमें ही तीनों का सन्तुलन है।

आर्थिक लोकतन्त्र

भारतीय चेतना प्रकृति से प्रजातन्त्रीय है और आज का युग भी प्रजातन्त्र

की ओर बढ़ रहा है। राजनीति के क्षेत्रों में यह प्रजातन्त्र का भाव बहुत कुछ स्पष्ट होकर आया है तथा अब आर्थिक क्षेत्र में भी इसी प्रजातन्त्र का उदय हो रहा है। राजनीतिक शक्ति का प्रजा में विकेन्द्रीकरण करके जिस प्रकार शासन की संस्था का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का भी प्रजा में विकेन्द्रीकरण करके अर्थ-व्यवस्था का निर्माण और संचालन होना चाहिए। राजनीतिक प्रजातन्त्र में व्यक्ति की अपनी रचनात्मक क्षमता को व्यक्त होने का पूरा अवसर मिलता है। ठीक इसी प्रकार आर्थिक प्रजातन्त्र में भी व्यक्ति की क्षमता को कुचलकर रख देने का नहीं अपितु उसको व्यक्त होने का पूरा अवसर प्रत्येक अवस्था में मिलना चाहिए। ऐसी अर्थ-व्यवस्था किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं, जिसमें व्यक्ति के अपने ही हितों में उसे दबा दिया जाय, क्योंकि बाद में चलकर इस दमन के परिणाम प्रगट होते हैं और अन्ततः राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था पर ही नहीं, आर्थिक व्यवस्था पर भी उनका कुप्रभाव पड़ता है। यह निसर्ग का नियम है, तथा आरम्भ से ही उसका ध्यान रखकर चलना बुद्धिमत्ता कहा जायेगा।

राजनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमानों पर किया गया उद्योगीकरण नष्ट करता है। ऐसे उद्योगों में व्यक्ति स्वयं भी मशीन का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। इसलिए तानाशाही की भाँति ऐसा उद्योगीकरण भी वर्जनीय है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की यह रचनाशक्ति तभी प्रकट हो सकती है, जब विकेन्द्रीकरण के आधार पर उद्योगों की व्यवस्था हो। विकेन्द्रीकरण से मशीन का परित्याग नहीं समझना चाहिए: इसके लिए मशीनों को छोटा जरूर करना पड़ सकता है। बड़ी मशीनों का परित्याग इस अवस्था में आवश्यक है। कुछ ऐसे उद्योग भी हो सकते हैं, जो बड़ी मशीनों से ही चल सकते हों, तो उन पर व्यक्तिगत स्वामित्व के बजाय राजकीय स्वामित्व होना चाहिए। ऐसे उद्योग सुरक्षा-उद्योगों में आते हैं।

विकेन्द्रीकरण से वे समस्याएँ हल होती हैं, जिनका कारण अतिकेन्द्रीकरण है। पूंजीवाद भी अतिकेन्द्रीकरण के कारण ही उत्पन्न होता है। जब लोगों को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का अवसर ही नहीं मिलेगा तो पूँजी इकट्ठी ही कैसे हो सकेगी ? इसमें गाँव तो अधिकाधिक स्वावलम्बी होंगे ही, व्यक्ति को

प्रेरणा मिलने के कारण वस्तु के गुण तथा उत्पादन दोनों ही बढ़ेंगे। पुरातनकाल के कुटीर उद्योग जितनी उत्तम श्रेणी की वस्तुएँ तैयार करते थे, उतनी आज की मशीन नहीं तैयार कर पाती। कुटीर उद्योगों में हस्तकौशल और शिल्प को जो बहुत बड़ा क्षेत्र मिलता है, वह मशीन-उद्योगों में बिल्कुल नहीं मिल पाता। जिस प्रकार राजनीतिक लोकतन्त्र में ग्राम-पंचायत आदि इकाइयों से लोकतन्त्र उठकर ऊपर की ओर चलता है, उसी प्रकार आर्थिक लोकतन्त्र में ग्राम तथा कुटीर उद्योगों और इसी प्रकार विकेन्द्रीकरण के अनुसार किये जाने वाले कृषि-उत्पादन केन्द्रों से उठकर लोकतन्त्र ऊपर जाना चाहिए। साम्यवाद केन्द्रित अर्थनीति का ही एक अंग है, अतः उसकी जड़ें आसमान में हैं, जबकि इस अर्थ-व्यवस्था की जड़ें धरती के भीतर गहरी घुसी हुई हैं।

अर्थ-सूत्र

भारतीय-संस्कृति में कर्म यानी श्रम को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। वेदों से लेकर उपनिषदों तथा गीता तक में इसकी महत्ता सर्वोपरि मिलती है। श्रम करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है, अतः श्रम की अप्रतिष्ठा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसके साथ ही प्रत्येक को श्रम करने का अवसर देना शासन का भी कर्तव्य है। प्रत्येक को काम का सिद्धान्त यदि स्वीकार कर लिया जाय तो सम-वितरण की दिशा निश्चित हो जाती है और हम विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ते हैं। औद्योगीकरण को उद्देश्य मानकर चलना गलत है; यह उद्देश्य अपने आप में स्पष्ट भी नहीं है। इस सिद्धान्त को गणित के सूत्र में यों रख सकते हैं-

ज x क x य= इ

(यहाँ 'इ' समाज की प्रभावी इच्छा का द्योतक है, जिसकी पूर्ति की उसमें शक्ति है, 'ज' समाज में काम करने योग्य व्यक्तियों की संख्या का द्योतक है, 'क' काम करने की अवस्था और व्यवस्था का द्योतक है तथा 'य' यन्त्र का द्योतक है।)

इस सूत्र के अनुसार यदि हम चाहते हैं कि 'ज' निश्चित रहे (जो 'प्रत्येक को काम' के सिद्धान्तानुसार आवश्यक है) तो 'इ' के अनुपात में 'क' और 'य' को बदलना होगा। ज्यों-ज्यों हमारी माँग बढ़ती जायेगी, हमें ऐसे यन्त्रों का उपयोग करना होगा,जिनके सहारे हम अधिक उत्पादन कर सकें । आज जो

शासन की नीति है, उसमें 'य' सबका नियन्त्रण कर रहा है।

वास्तव में तो 'इ' के बढ़ने से हमारी समस्या हल होगी। किन्तु 'इ' सहज नहीं बढ़ सकती क्योंकि यह हमारी क्रय-शक्ति पर निर्भर है। अतः शासन को देश की क्रय-शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न भी करना होगा। क्रय-शक्ति मूलतः तो अधिक उत्पादन होने पर ही बढ़ सकती है किन्तु उसके लिए धन के अधिकाधिक सम-वितरण की भी आवश्यकता है।

'इ' अर्थात् प्रभावी माँग देश में तथा देश के बाहर भी हो सकती है। यदि हमारा माल बाहर जाता है, तो 'इ' बढ़ जाती है। बाहर से माल आने पर 'इ' कम हो जाती है, क्योंकि हमारी क्रय-शक्ति का बड़ा भाग उन्हें खरीदने में खर्च हो जाता है। आज भारत में यही हो रहा है स्वदेशी प्रेम के द्वारा 'इ' बढ़ाई जा सकती है। चूँकि 'य' और 'क' में एकदम परिवर्तन सम्भव नहीं, अतः 'ज' कम होता जा रहा है।

आर्थिक क्षेत्र की तीन वस्तुएँ हैं- मनुष्य, श्रम और मशीन। इन तीनों का समन्वय ही अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य है। जिस अर्थ-व्यवस्था में यह समन्वय नहीं, उसमें समन्वयहीनता के परिणामस्वरूप विषमताएँ अवश्य होंगी। जो अर्थनीति इन परिणामों से ही अपने दर्शन का सूत्र चलाती है, वह तात्कालिक रूप में इन परिणामों को भले ही दूर कर दे, पर वह व्यवस्था का मौलिक शोधन नहीं कर सकती। मौलिक शोधन के लिए तो कारणों से ही चलकर आगे बढ़ना होगा तथा इन परिणामों को नष्ट करने का उपाय करना होगा।

☆

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था

भारतीय जनसंघ के पास एक स्पष्ट आर्थिक कार्यक्रम है। किन्तु उसका स्थान हमारे सम्पूर्ण कार्यक्रम में उतना ही है जितना भारतीय संस्कृति में 'अर्थ' का है। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवादी होने के कारण अर्थ-प्रधान है। हम भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद दोनों का समन्वय करके चलना चाहते हैं। अतः यह निश्चित है कि जनसंघ उन अर्थ-शास्त्रियों एवं दलों से जो अर्थ के सामने जीवन के प्रत्येक मूल्य की उपेक्षा करके चलना चाहते हैं, इस मामले में सदैव पीछे रहेगा। जनसंघ हृदय, मस्तिष्क और शरीर तीनों का सम्मिलित विचार करता है। इसी कारण कुछ लोग जनसंघ पर यह आरोप भी लगाते हैं कि जनसंघ आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है, महर्षि अरविन्द आदि आध्यात्मिक महापुरुषों की भाषा नहीं बोल पाता है। हम दोनों ही प्रकार के आरोपों का स्वागत करते हैं और इतना ही कहना चाहते हैं कि जो अर्थ समाज की धारणा के लिए आवश्यक है, जितने मात्र से व्यक्ति अपना भरण-पोषण करके अन्य श्रेष्ठ मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके, उतने को ही हमने अपने कार्यक्रम में स्थान दिया है।

यह संघर्ष नहीं है

आज विश्व में दो गुटों का संघर्ष चल रहा है। एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पूँजीवादी देश हैं तो दूसरी ओर रूस के नेतृत्व में समाजवादी अथवा साम्यवादी गुट। यद्यपि हमारी विदेश-नीति तटस्थ है पर वैचारिक दृष्टि से हमें उनमें से एक गुट अर्थात् समाजवादी गुट में सम्मिलित होने के लिए तैयार किया जा रहा है। जनसंघ चाहता है कि विदेश-नीति के समान ही हमें वैचारिक क्षेत्र में भी तटस्थ रहना चाहिए। जो लोग पश्चिमी विचारधाराओं में पले हैं और उन विचारधाराओं में प्रयुक्त शब्दावली के आधार पर ही दुनिया की सब चीजों को

समझ सकते हैं, उनका कहना है कि भारत में भी पूँजीवाद और समाजवाद का संघर्ष चल रहा है। वास्तव में यह विश्व के वैचारिक संघर्ष की प्रतिच्छाया मात्र है, उसका अस्तित्व हमारे यहाँ है नहीं। हमारा कहना है कि निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र के संघर्ष की चर्चा उठाना निरर्थक और निराधार है। हमें ऊपर उठकर समस्याओं की ओर देखना चाहिए।

व्यवस्था से पहले मनुष्य

यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो दिखाई पड़ेगा कि दोनों के दोषों का मूल कारण एक है। उसकी जड़ें अलग-अलग नहीं हैं। अतः हम यह खोजें कि बुराई कहाँ है ? बुराई का वास्तविक कारण व्यवस्था नहीं, मनुष्य है। मनुष्य ही प्रथम आता है। बुरा व्यक्ति अच्छी से अच्छी व्यवस्था में घुसकर बुराई फैला देगा। समाज की प्रत्येक परम्परा और व्यवस्था किसी न किसी अच्छे व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ की गयी। परन्तु उसी अच्छी परम्परा पर जब बुरा व्यक्ति आ बैठा तो वहाँ बुराई आ गयी। राज्य-संस्था को ही लें। क्या रामचन्द्र जी राजा नहीं थे ? जहाँ उन्होंने अपने श्रेष्ठ जीवन से राज्य-संस्था के गौरव में वृद्धि की, वहाँ अनेकों ने दोषों से उसी को इतना अपवित्र कर दिया कि कई बार राज्य-संस्था का नाम लेने से चिढ़ उत्पन्न होती है। इसी दृष्टि से निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के संघर्ष की ओर देखें। इसकी क्या गारण्टी है कि यदि कोई व्यक्ति निजी क्षेत्र में स्वतन्त्र रहकर बुराई करता है तो उसके स्थान पर राज्य का व्यक्ति बैठा देने पर बुराई न फैलेगी ? अतः हमारा ध्यान व्यक्ति की कर्त्तव्य-भावना को जगाने पर केन्द्रित होना चाहिए था।

'आर्थिक मनुष्य' की भ्रामक कल्पना

परन्तु हुआ क्या ? व्यक्ति की ओर दुर्लक्ष्य और बाह्य व्यवस्था पर जोर दिया गया। निर्जीव व्यवस्था के सामने चेतन मनुष्य नगण्य माना गया। व्यक्ति के अन्दर विद्यमान सद्गुणों के विकास करने के स्थान पर उनका ह्रास करने वाले उपायों का ही अवलम्बन किया गया। राष्ट्र-निर्माण की योजनाएँ बनाने वालों ने इस तथ्य को सर्वदा भुला दिया कि प्रयास करने पर मनुष्य मानव से देवता बन सकता है। उन्होंने मानव का गर्हित स्वरूप ही सामने लाकर रखा। वे पूँजीवाद के आधार में एक ऐसे मनुष्य की कल्पना करके चलते

हैं जो विशुद्ध 'आर्थिक मनुष्य' (Economic man) है।यह केवल एक कल्पना है। ऐसा कोई व्यक्ति न कभी पैदा हुआ है और न होगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मनुष्य का, चाहे वह पूँजीपति हो या मजदूर; प्रत्येक कार्य अर्थ की दृष्टि से होता हो। वह 'अर्थ' का विचार भले ही करता होगा पर उसके कार्य का प्रेरक अर्थ ही नहीं हो सकता। अर्थ-शास्त्र के नियमों की कसौटी पर यदि मानवीय व्यवहार को कसा जाय तो आपको कहीं भी 'आर्थिक मनुष्य' के दर्शन नहीं होंगे बल्कि उससे कहीं विशाल सम्पूर्ण मानव (Wholeman) का अस्तित्व दिखाई देगा।

पूँजीवाद का आधार यदि आर्थिक मनुष्य (Economic man) माना गया तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप समाजवाद ने सामूहिक मनुष्य (Mass man) की कल्पना की। मनुष्य को एक प्रकार (Type) मान लिया। उस (mass man) की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने का लक्ष्य ही सामने रखा। उसके जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूरी उपेक्षा कर दी गयी। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्यता का विचार नहीं है।

मनुष्य पुर्जा बन गया

मनुष्यता की व्याख्या कठिन है। अनेक बातें समान होते हुए भी प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ विशिष्टता है। उसकी विविधताओं का विचार आवश्यक है। भारतीय संस्कृति ने एक विचार किया कि मनुष्य विविधताओं का स्वाभाविक विकास करते हुए भी आन्तरिक एकात्मता की अनुभूति करता चले। व्यक्ति की स्वतन्त्रता सर्वप्रथम है। जब टाटा-बिरला, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या मुक्त प्रेरणा की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है, उनकी अपनी स्वतन्त्रता, उनके कारखानों में गुलाम बने हुए लाखों-करोड़ों मजदूरों की स्वतन्त्रता नहीं। हमें तो लाखों-करोड़ों मानवों की स्वतन्त्रता का विचार करना है। शक्ति-चाहे वह राजनीतिक हो या आर्थिक-के केन्द्रीकरण से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है। पूँजीवाद और समाजवाद दोनों केन्द्रीकरण के हामी हैं। पूँजीवाद में धीरे-धीरे मुक्त प्रतियोगिता समाप्त होकर आर्थिक शक्ति पर कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार (monopoly) स्थापित हो जाता है। अमेरिका आदि पूँजीवादी देशों में जो बड़े-बड़े औद्योगिक साम्राज्य (Industrial Empires) बसे हुए हैं,

उनकी क्या स्थिति है ? आज जितने (Anti trust Laws) अमेरिका में बनाने पड़े हैं, उतने कहीं भी नहीं हैं। वहाँ व्यवहार व्यक्तियों के साथ नहीं, फाइलों के साथ होता है। आर्थिक शक्ति को राज्य के हाथों में सौंपने वाले समाजवाद में भी ऐसा ही होता है। राज्य की नौकरशाही भी यही करती है। परिणाम हो रहा है कि जीवन यन्त्रवत् होता जा रहा है। मनुष्य का स्थान फाइलें ले रही हैं। मानवता समाप्त होती जाती है। दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्य का विचार होता है तो परिमाणात्मक (Quantitative) आधार पर न कि गुणात्मक (Qualitative) आधार पर।

मानववाद चाहिए

जब तक एक-एक व्यक्ति की विशिष्टता-विविधता को ध्यान में रखकर उसके विकास की चिन्ता नहीं करेंगे तब तक मानवता की सच्ची सेवा नहीं होगी। समाजवाद और पूंजीवाद ने मनुष्य को व्यवस्था के निर्जीव यन्त्र का एक पुर्जा मात्र बना डाला। एक स्वतन्त्र जुलाहे को समाप्त कर उसे विशाल कारखाने का मजदूर बना दिया गया। बजाज के स्थान पर एक विभागीय स्टोर्स बना दिया गया। दर्जी के स्थान पर रेडीमेड कपड़ा लाकर रख दिया गया। मनुष्य यानी एक जन्तु जो आठ घन्टे यन्त्रवत् मजदूरी करे और १६ घण्टे खाये। कार्य और जीवन के बीच एक दीवार खड़ी हो गयी। पश्चिमी के कई देशों में कहा जाता है, पाँच दिन काम के और दो दिन छुट्टी के। उन दो दिनों में केवल मस्ती, केवल खाना-पीना और मौज, काम की बात भी नहीं। अर्थात् वे पाँच दिन कमाई करते हैं और दो दिन जीवित रहते हैं। अतः हमें मनुष्य-मनुष्य के कमाई के साधनों का इस प्रकार निर्धारण करना होगा कि उसके कार्य और वास्तविक जीवन के बीच कोई खाई न रहे। हाड़-माँस के मनुष्य, जिसके पास हृदय, मस्तिष्क और शरीर तीनों की भूख है, का ही विचार करना होगा। अन्यथा कार्य के ८ घण्टों का जो अमानवीय प्रभाव (Dehumanising Effect) होता है, उसे समाप्त करने में ही उसके शेष १६ घण्टे व्यतीत हो जाते हैं, उनके समाप्त होते ही वह पुनः उन ८ घण्टों के चक्र में फँस जाता है।

विज्ञान और मानवता

अतः हम पूँजीवाद और समाजवाद के चक्कर से मुक्त होकर 'मानववाद'

का विचार करें। मानव-जीवन के समस्त पहलुओं का विचार कर आर्थिक क्षेत्र में उत्पादन, वितरण और उपभोग के साधन तथा व्यवस्था बनायें। फिर उसके लिए विज्ञान का उपभोग करें। यह आवश्यक नहीं कि हम विज्ञान के पुराने प्रयोगों को ज्यों का त्यों अपना लें। आज हम पश्चिम की टेक्नालोजी की आँख मूंदकर नकल कर रहे हैं। इसे बन्द करना होगा और टेक्नालोजी का प्रयोग मानवता के विकास के लिए करना होगा।

विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था

इसके लिए विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था चाहिए। स्वयंसेवी क्षेत्र (Self Employed Sector) को खड़ा करना होगा। यह क्षेत्र जितना बड़ा होगा उतना ही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा, मनुष्यता का विकास हो सकेगा, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का विचार कर सकेगा। प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिशः आवश्यकताओं और विशेषताओं का विचार करके उसे काम देने पर उसके गुणों का विकास हो सकता है। यह विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था भारत ही संसार को दे सकता है। हम नये सिरे से आर्थिक निर्माण कार्य शुरू कर रहे हैं। अतः हमें यह विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था खड़ी करने में सुविधा हो सकती है जबकि दुनिया शायद यह बात आसानी से न कर पाये। यदि एक बार बड़े भारी कारखाने का निर्माण हो गया तो उसे समाप्त करने की बात सोचने से अनेकों व्यावहारिक कठिनाइयाँ आती हैं। उसके लिए बड़ा साहस बटोरना पड़ता है। भारी उथल-पुथल के लिए तैयार होना पड़ता है। अतः राष्ट्र-निर्माण की इस प्रारम्भिक बेला में अपना पग आगे बढ़ाते समय हम अच्छी प्रकार विचार करें।

यदि इसी चीज को खेती के क्षेत्र में लाकर देखें तो सहकारी खेती का अन्तिम चित्र होगा। 'ग्राम-व्यवस्था' (Village Management) उसमें किसान का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। अभी मैं उत्पादन के प्रश्न को नहीं उठाता; वह दूसरे नम्बर पर है। प्रथम बात तो यह है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता छिन जाने के कारण सुख के स्थान पर दुख आता चला जायेगा। आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता समाप्त हुई तो राजनीतिक क्षेत्र में भी समाप्त हो जाती है। समाजवाद और प्रजातन्त्र साथ-साथ नहीं चल सकते। सच्चे प्रजातन्त्र का आधार आर्थिक विकेन्द्रीकरण ही हो सकता है। अतः सिद्धान्ततः हमें छोटे-

छोटे उद्योगों को ही अपनाना चाहिए।

बेकारी का प्रश्न

अब व्यावहारिक दृष्टि से देखें। हमारी योजनाएँ श्रमप्रधान होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को काम मिलना चाहिए। आज की योजनाओं की सबसे बड़ी खराबी यह है कि उनमें देश की स्थिति और आवश्यकताओं का विचार नहीं किया गया। पश्चिम हमें बड़ी-बड़ी मशीनें दे रहा है, हम लेते जा रहे हैं। एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था लाई जा रही है जिसके कारण देश की बेकारी बढ़ती जा रही है । यदि बेकारी कम होने के स्थान पर बढ़ती ही गयी तो देश की प्रगति का आधार क्या? यह मैं मान सकता हूँ कि बेकारी एकदम दूर नहीं हो सकती, पर योजनाएँ बनाने से पहले हमें 'प्रत्येक व्यक्ति को काम' के सिद्धान्त को मान्यता देनी पड़ेगी। यदि इसे मान लिया गया तो योजनाओं की दिशा एवं स्वरूप बदल जायेगा भले ही बेकारी धीरे-धीरे दूर हो।

राष्ट्रीय आय

आजकल राष्ट्रीय आय का विचार 'औसत के सिद्धान्त' (Law of Average) के आधार पर किया जाता है। पर यह बहुत बड़ा भ्रम है। राष्ट्रीय आय बढ़ती जाने के बाद भी देश की गरीबी बढ़ती जा रही है। यह क्यों ? राष्ट्रीय आय के बढ़ने का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति की आय बढ़े। प्रत्येक को काम दिया जाय तो गरीबी घटेगी, प्रत्येक की आय में वृद्धि होगी। इससे उत्पादन में भी वृद्धि होगी। इससे उत्पादन में भी वृद्धि होगी। यह सत्य है कि कम मनुष्यों का उपयोग करने वाली बड़ी मशीनों के द्वारा भी उत्पादन बढ़ सकता है, पर वह हमारे देश के लिए उपयुक्त नहीं। गांधी जी कहा करते थे, 'मैं विशाल उत्पादन चाहता हूँ परन्तु विशाल जनसमूह के द्वारा उत्पादन चाहता हूँ (I want mass production by masses as well)

उत्पादन का सही ढंग

अब बड़ी मशीनों के आधार पर जो उत्पादन बढ़ाने का प्रयास चल रहा है उससे देश में बेकारी तो बढ़ ही रही है, विदेशी ऋण भी बढ़ता जा रहा है। आज हमारे राष्ट्र की पूरी आय के ५५ प्रतिशत से अधिक हम पर ऋण है। बढ़ते हुए

विदेशी ऋण के कारण विदेशी मुद्रा विनिमय की समस्या खड़ी हो गयी है। अतः उसके कारण हमारा नारा 'उत्पादन करो या मर जाओ' के स्थान पर 'निर्यात करो या मर जाओ' हो गया है। हमारी भावी योजनाएँ निर्यात पर आधारित होने के कारण जो चीज हम पैदा करते हैं उसका भी उपयोग नही कर पाते। उदाहरणार्थ चीनी का हम स्वयंपूर्ण बाजार खड़ा कर सकते थे पर हमें विदेशी मुद्रा की प्राप्ति के लिए चीनी सस्ते मूल्य पर विदेशों में बेचनी पड़ती है, अतः देश में वह महंगे मूल्य पर बेची जा रही है। अपनी गाय-भैसों को खली और भूसा न खिलाकर हम विदेशों को भेज रहे हैं और दूध के डिब्बों का आयात कर रहे हैं। वेजिटेबिल घी बनाने वाली मशीनों को मंगा रहे हैं।

आज हम देश की प्रगति का हिसाब मशीनों में लगाते हैं। एक सज्जन ने अमेरिका की तुलना में भारत के पिछड़ेपन का उल्लेख करते हुए इस्पात के उपभोग (Steel consumption) को मानदण्ड के रूप में प्रस्तुत किया। अतः उन्होंने कहा कि पूरी शक्ति लगाकर अमेरिका के बराबर पहुँचना चाहिए। पर वे यह भूल गये कि अब तो प्लास्टिक का युग प्रारम्भ हो गया है। अगर पाँच-दस साल में हम इस्पात के उत्पादन में अमेरिका के बराबर पहुँच भी गये तो आर्थिक प्रगति का मापदण्ड 'प्लास्टिक' का उपयोग हो जायेगा और हम पुनः पिछड़े के पिछड़े रह जायेंगे। अतः हम जीवनस्तर का ठीक निश्चय करें।

इसका विचार करके ही हम उत्पादन के साधनों का निश्चय करें। यदि अधिक आदमियों का उपयोग करने वाले छोटे-छोटे कुटीर उद्योग अपनाये गये तो कम पूँजी तथा मशीनों की आवश्यकता पड़ेगी जिससे नौकरशाही का बोझ कम होगा, विदेशी ऋण को भी नहीं लेना पड़ेगा, देश की सच्ची प्रगति होगी तथा प्रजातन्त्र की नींव पक्की हो सकेगी।

☆

शिक्षा

शिक्षा का सम्बन्ध जितना व्यक्ति से है उससे अधिक समाज से। हम ऐसे मानव की कल्पना कर सकते हैं, जिसे किसी भी प्रकार की शिक्षा न मिली हो; और जो अपनी सहज प्रवृत्तियों (Instincts) के सहारे ही जीवन यापन करता हो, किन्तु बिना शिक्षा के समाज सम्भव नहीं। किसी काल विशेष में कोई मानव-समूह मात्र समाज की संज्ञा प्राप्त नहीं कर सकता। उस समूह में प्रत्येक क्षण कुछ व्यक्ति घटते और कुछ बढ़ते रहते हैं। मानव की आयु-मर्यादा के अनुसार एक कालावधि में किसी भी मानव-समूह के सभी घटक भौतिक दृष्टि से बदल जाते हैं। किन्तु इसके उपरान्त भी यदि उस मानव-समूह का व्यक्तित्व एवं उसकी चेतना बनी रहे, नए घटकों को पुराने घटकों से अपने सम्बन्ध का भान रहे, तथा वे पुराने घटकों की जीवन की अनुभूति को अपनी अनुभूति मानकर और समझकर आगे चलें तो उस समूह को 'समाज' नाम प्राप्त हो जाता है। अर्थात् एक के बाद एक मानव जब दूसरों को; जो प्रायः उसके बाद जन्मे हों, विभिन्न क्षेत्रों के अपने सम्पूर्ण अनुभव को अथवा उसमें के सारभूत अंश को विभिन्न उपायों द्वारा प्रदान या संसर्गित करता है, तो इस प्रक्रिया में एक निरन्तर गतिमान मानव-समूह की सृष्टि होती है, जिसे समाज कहते हैं। अनुभव-प्रसारण की इस क्रिया को ही वास्तव में 'शिक्षा' कहते हैं। यदि शिक्षा न हो तो 'समाज' का जन्म ही न हो। अतः 'शिक्षा' के प्रश्न को मूलतः सामाजिक दृष्टिकोण से ही देखना होगा। हमारे शास्त्रों के अनुसार यह ऋषि-ऋण है, जिसे चुकाना प्रत्येक का कर्तव्य है। जब हम भावी सन्तति की शिक्षा की व्यवस्था करते हैं, वास्तव में हमारी उनके प्रति उपकार की भावना नहीं रहती, अपितु हमें जो कुछ धरोहर अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई है उसे आगे की पीढ़ी को सौंपकर उनके ऋण से उऋण होने की मनीषा रहती है। जान बुकन ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है:- "हम भूत के ऋण से उऋण हो

सकते हैं, यदि हम भविष्य को अपना ऋणी बनायें।"

शिक्षा संस्थाएँ

'शिक्षा' की जितनी व्यापक और गहरी व्यवस्था होगी, समाज उतना ही अधिक पुष्ट और गम्भीर होगा। नयी पीढ़ी के जितने लोगों को और जितनी अधिक मात्रा में पिछली ज्ञान-निधि प्राप्त होगी, उसी पूँजी को लेकर वह जीवन के कार्यक्षेत्र में उतरेगी। यह भी स्वाभाविक है कि वह प्राप्त पूँजी में अपने प्रयत्न और अनुभव के आधार पर वृद्धि करें। इस प्रकार यह पूँजी बराबर बढ़ती जायेगी। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया में कम से कम छीजन हो। इसके लिए जहाँ शिक्षा की व्यापक और विविधतापूर्ण योजना करनी होगी, वहाँ 'प्रदेय' के असारभूत अंगों का परित्याग एवं तत्त्व का संरक्षण भी बड़े मनोयोग से करना होगा। एतदर्थ ऐसे लोगों की आवश्यकता हो जाती है, जो पीढ़ियों के संचित ज्ञान को आत्मसात् करके सुबोध बना सकें, 'शिक्षा' के व्यापक अर्थों में समाज के प्रत्येक घटक के 'शिक्षक' रूप होने के उपरान्त भी उपर्युक्त कारणों से ही 'शिक्षण संस्था' का उदय हुआ।

राष्ट्र जीवन के 'मानस' का ज्ञान

प्रत्येक पीढ़ी के साथ समाज की प्राचीन निधि का संरक्षण, संवर्द्धन एवं आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरण होता रहता है। किन्तु नई अनुभूतियों का जब तक प्राचीन अनुभूतियों के साथ एकीकरण नहीं होता, तब तक वे 'समाज' के मानस में स्थान नहीं पा सकतीं। यह तभी सम्भव है जबकि 'समाज' के आज तक के सम्पूर्ण अनुभवों और जीवन-व्यापारों का समन्वित, एकीकृत, सुसम्बद्ध एवं सर्वांश में व्यापक ज्ञान प्राप्त हो। इस ज्ञान की छाप जितनी गहरी, सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित रहेगी, उतना ही मानव अपनी जीवन-यात्रा में सरलता और शान्ति से पग बढ़ा सकेगा। यदि उसको अपने राष्ट्र के 'मानस' का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं, तो वह अपने जीवन में सदैव ही उखड़ा-उखड़ा सा अनुभव करेगा।

शिक्षा के माध्यम

राष्ट्र-मानस के ज्ञान अथवा शिक्षा के प्रमुख माध्यम हैं– (१) संस्कार,

(२) अध्यापन और (३) स्वाध्याय। मनुष्य अनजाने में ही अपने चारों ओर के समाज से संस्कार ग्रहण करता रहता है। उसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति 'शिक्षक' का काम करता है। 'संस्कार' यद्यपि दोनों ओर से चलने वाली प्रक्रिया है, तथापि मानस की अनुकरण (Imitation), संवेदना (Sympathy) एवं सूचनात्मक (Suggestion) प्रवृत्तियों के नियम के अनुसार समर्थकर्ता की क्रियाएँ ही प्रभावकारी होती हैं। स्वभावतः पिछली पीढ़ी के आचार-विचारों का संस्कार नई पीढ़ी पर पड़ता है। माता-पिता, परिजन, पुरजन, गुरुजन, अग्रपाठी, सहपाठी, समाज के नेता और अधिष्ठाता ये सभी विभिन्न प्रकार के निरन्तर संस्कार डालते रहते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनकी क्रियाओं का परिणाम केवल उन पर ही नहीं बल्कि अन्यों पर भी पड़ता है। स्वयं को ही नहीं अन्यों को भी अपने कर्म-बन्धन में बाँधते हैं।

अध्यापन व लोकशिक्षा

अध्यापन' शिक्षा का सर्वसामान्य साधन है। साधारणतया 'अक्षर-ज्ञान' तथा पाठ्य-पुस्तकों अथवा तत्सम्बन्धी पाठ्य-क्रम का अध्यापन ही इस क्षेत्र के अन्तर्गत समझा जाता है। किन्तु वास्तव में यह क्षेत्र भी बहुत विस्तीर्ण है। मानव के ज्ञान का बहुत ही थोड़ा अंश भाषा के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और उसमें से भी एक अंश मात्र लिपिबद्ध है। अतः लिपि-ज्ञान अथवा भाषा-ज्ञान से शिक्षा का पूर्ण उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। 'अध्यापन' के अन्तर्गत वे सब क्रियाएँ आती हैं जिनके द्वारा कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह अपने पास के ज्ञान को दूसरे को देने का चेतनापूर्वक प्रयास करता हो। यह प्रयास पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में ही नहीं, घर-घर में तथा खेत-खलिहान, कारखानों, दुकानों, पाठशालाओं, कलाभवनों, खेल के मैदानों और मल्लशालाओं में भी चलता रहता है। साथ ही जीवन के पहिले आश्रम में ही नहीं, बाद में भी मनुष्य का विभिन्न प्रकार से अध्यापन होता रहता है। प्राचीन काल के कथा और कीर्त्तन तथा आज के रेडियो, सिनेमा, समाचार-पत्र आदि सभी इस सीमा में आते हैं।

स्वाध्याय

'स्वाध्याय' मनुष्य का स्वयं का अध्यापन है। लिपि-ज्ञान स्वाध्याय के

लिए बहुत आवश्यक है। पठन, मनन और चिन्तन के सहारे मनुष्य ज्ञान को आत्मगम्य करता है। बिना स्वाध्याय के न तो प्राप्त ज्ञान टिकता है और न बढ़ता है। स्वाध्याय के बिना ज्ञान को जीवन का अंग बनाकर 'तेजस्वीय' बनाने का तो प्रश्न ही नहीं। अतः "स्वाध्यायान्मा प्रमद"- यह कुलपति का स्नातक को दीक्षान्त के अवसर पर आदेश रहता था। पुस्तकालय आदि की व्यवस्था स्वाध्याय के लिए आवश्यक है।

शिक्षा का यदि सर्वाङ्गपूर्ण विचार किया जाय तो शालेय-शिक्षा-क्रम तथा उसका माध्यम क्या हो, यह सहज ही समझा जा सकता है। व्यक्ति यदि भूत की ज्ञान-निधि को भविष्य तक पहुँचाने वाला एक अभिकर्ता मात्र है तो उसकी शिक्षा में इसका समावेश होना चाहिए। यदि यह नहीं हुआ तो वह समाज का चेतनशील एवं प्रभावी घटक होने के स्थान पर समाज से असंबद्ध एवं मृतप्राण जैसा होकर समाज के लिए अहितकर ही होगा।

शालेय-शिक्षा अकेली ही मनुष्य का निर्माण नहीं करती। संस्कार और अध्यापन का बहुत सा क्षेत्र ऐसा है, जो शालेय क्षेत्र से बाहर है। यदि इन दोनों क्षेत्रों में विरोध रहा तो विद्यार्थी के जीवन में एक अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाता है। एक समन्वित, एकीकृत, सर्वाङ्गपूर्ण, अखण्ड व्यक्तित्व का विकास होने के स्थान पर उसकी प्रकृति में विभक्त निष्ठाओं का समावेश हो जाता है। समाज और उसके बीच एक खाई पड़ जाती है।

इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही हो सकती है। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं, वह स्वयं ही एक अभिव्यक्ति है। भाषा के एक-एक शब्द, वाक्य-रचना, मुहावरों आदि के पीछे समाज के जीवन की अनुभूतियाँ, राष्ट्र की घटनाओं का इतिहास छिपा हुंआ है। फिर स्वभाषा व्यक्ति को अलग-अलग प्रकोष्ठों में नहीं बाँटती।

शिक्षा के इस सामाजिक उद्देश्य को पूरा करने का प्रयास किया गया तो व्यक्ति सहज ही चतुर्विध पुरुषार्थों के लिए प्रयत्न की योग्यता और सामर्थ्य प्राप्त कर लेगा।

☆

सही शब्द : सही अर्थ

समाज, संस्कृति, धर्म और राष्ट्र- ये चारों ही ऐसे शब्द है, जिनके साथ जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उनके बारे में देश में बहुत भ्रम फैला हुआ है। इसका बहुत बड़ा कारण यह भी है कि जब हम इन शब्दों का कोई पर्याय विदेशी भाषाओं में ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं तो वहाँ उन तथाकथित पर्यायवाची शब्दों के पीछे जो भाव उन भाषाओं में खड़े किये गये हैं; उन्हें अपने देश में भी आरोपित करने का प्रयास करने लगते हैं। इस प्रकार ये शब्द आज हमारे लिए कष्टप्रद और मति-भ्रम उत्पन्न करने वाले बन गये हैं।

राष्ट्र

सर्वप्रथम 'राष्ट्र' शब्द को ही लें। आजकल हमारे यहाँ प्रादेशिक राष्ट्रवाद की कल्पना प्रचलित हो गयी है। लोग कहते हैं, जो भी यहाँ पैदा हो गया- फिर उसके विचार चाहे जैसे हों- वही इस राष्ट्र का अंग माना जाना चाहिए। उदाहरणार्थ एक सज्जन, संसद के एंग्लोइण्डियन सदस्य श्री फ्रेंक एन्थोनी द्वारा प्रस्तुत अंग्रेजी विषयक प्रस्ताव की वकालत करते हुए समझाने लगे कि "एंग्लोइण्डियन भी तो भारत के राष्ट्रीय हैं। अतः जिस भाषा को वे मातृभाषा बोलते हैं, उसे क्यों नहीं हमें अपने संविधान में स्थान देना चाहिए ?" मैंने उनके उत्तर में केवल इतना ही कहा- "राष्ट्रीय है, या राष्ट्रीय होना चाहिए- इन दोनों बातों में बहुत अन्तर है। यह तो मैं भी मानता हूँ कि जो लोग इस भूमि में जन्म लेते हैं उन्हें राष्ट्रीय बनने के लिए प्रयास करना चाहिए, किन्तु इस बारे में मतभेद हो सकता है। वे जैसे कुछ आज बने हुए हैं, उसी रूप में पूर्ण राष्ट्रीय हैं या नहीं।" मैंने उनसे कहा- "आज तो वे अंग्रेजी को अपनी मातृभाषा मानते हैं और आप कहते हैं कि वे राष्ट्रीय हैं अतः उनकी माँग मान लेनी चाहिए; पर कल यदि अपने देश में रहने वाले कुछ रोमन कैथोलिक लोगों ने रोम के पोप को, जिसे

वे अपना केवल धर्मगुरु ही नहीं, सब प्रकार से जीवन का केन्द्र मानकर चलते हैं, भारत के राष्ट्रपुरुषों की श्रेणी में रखने की माँग की तो ? और इसी सिद्धान्त का सहारा लेकर यदि कुछ लोग अपनी देशबाह्य निष्ठा (Extra Territorial Loyalty) के कारण विदेशी राज्य का हस्तक बनकर हमारे देश में खड़े हो गये तो आप उन्हें क्या कहेंगे?" इस प्रकार राष्ट्रीयता के मूल तत्त्वों के बारे मे आज हमारे यहाँ बहुत भ्रम है, जिनकी स्पष्ट व्याख्या होनी राष्ट्रहित में नितान्त आवश्यक है।

धर्म

दूसरा शब्द 'धर्म' भी इसी प्रकार भ्रम में फँसा हुआ है। 'धर्म' को उपासना-पद्धति के साथ बैठाकर लोग मुसलमान धर्म के समान ही हिन्दू धर्म शब्द का भी प्रयोग करते हैं। यह शब्द-प्रयोग ठीक नहीं। क्योंकि हिन्दूधर्म के अन्तर्गत जो अनेक भाव आते हैं वे केवल पूजा पद्धति तक ही सीमित नहीं हैं। बहुधा 'धर्म' शब्द का अंग्रेजी पर्याय (Religion) शब्द को माना जाता है। किन्तु इस एक छोटी सी भूल के कारण 'धर्म' शब्द का मूल अभिप्राय लोप हो जाता है और उस पर 'रिलीजन' शब्द के भाव आरोपित हो जाते हैं। इसके कारण ही आज हमारे राष्ट्र-जीवन में अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा हो गयी हैं।

समाज

उसी प्रकार यह समाज क्या है ? समाज शब्द से क्या अभिप्राय निकलता है ? जिसको हम हिन्दू समाज कहते हैं, वह कहाँ से आया, कैसे बना ? उसका विकास कैसे, कब प्रारम्भ हुआ ? इन सब बातों का कोई विचार न कर हम 'समाज' शब्द का अंग्रेजी में अनुवाद (Society) शब्द से करते हैं और एक क्षण के लिए भी यह विचार नहीं करते कि इन दोनों शब्दों की उत्पत्ति, विकास और मूल भावनाओं में कितना मौलिक अन्तर है।

संस्कृति

अन्तिम शब्द है 'संस्कृति'। इसके सम्बन्ध में सबसे अधिक भ्रम फैला हुआ है। वह भ्रम यहाँ तक फैल गया है कि आजकल संस्कृति माने हैं नाचना-गाना, सिनेमा, थियेटर अथवा इसी प्रकार के मनोरंजक कार्यक्रम। आजकल सांस्कृतिक

शिष्टमण्डलों के नाम से जो दल विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार करने के लिए भेजे जाते हैं, उनमें केवल नाचना, गाना जानने वाले कलाकार ही होते हैं। कई बार तो यह भी आवश्यक नहीं माना जाता कि वे भारतीय संगीत अथवा नृत्य को जानते ही हों। क्या यही भारतीय संस्कृति है, जिसका प्रचार करने हेतु एक समय भारत के सन्त और महर्षि दुर्लंघ्य हिमालय को लांघ कर एशिया के दूर देशों में गये थे? जिसका प्रचार करने के लिए स्वामी विवेकानन्द एकाकी ही अमेरिका पहुँच गये थे? आज तो ऐसा लगता है मानो प्रत्येक सिनेमा-तारिका विदेशों में जाकर स्वामी विवेकानन्द के महान् मिशन की अधिकारिणी बन बैठी है। यह सब क्यों हो रहा है ? केवल इसलिए कि संस्कृति के बारे में हमारी कल्पनाएँ स्पष्ट नहीं।

संस्कृति और राष्ट्र

अतः हम विचार करें 'संस्कृति क्या है।' यह विचार इसलिए भी करना आवश्यक है कि संस्कृति साधारणतया किसी भी राष्ट्र की आत्मा होती है। और कोई भी राष्ट्र तभी तक जीवित माना जा सकता है जब तक उसकी आत्मा उसके अन्दर विद्यमान है। केवल बाह्य उपकरणों से राष्ट्र जीवित नहीं रहता। राष्ट्र में रहने वाले मनुष्य आते-जाते रहते हैं, उनकी संख्या घटती-बढ़ती रहती है। राष्ट्र की भूमि भी उन मनुष्यों के सामर्थ्य के अनुसार कभी उनके पास रहती है, कभी दूसरों के अधिकार में चली जाती है। इन दोनों के घट-बढ़ से राष्ट्र के अस्तित्व पर प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु यदि एक बार ये दोनों बने भी रहे और 'संस्कृति' समाप्त हो गयी तो राष्ट्र-जीवन का अन्त समझना चाहिए। जिस प्रकार आत्मा निकल जाने के पश्चात् हड्डा-कड्डा शरीर भी किसी अर्थ का नहीं रहता, उसी प्रकार संस्कृति के समाप्त होने के बाद अन्य तत्त्व शेष रहें तो भी राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

राष्ट्र कब मरते हैं ?

आजकल हम लोग कहते हैं कि यूनान का पुराना राष्ट्र समाप्त हो गया। क्या समाप्त हो गया? यूनान की भूमि जहाँ की तहाँ मौजूद है। आज भी नक्शे में उसे देखा जा सकता है। वहाँ भी लोग रहते हैं।वे कोई ऐसे नहीं कि किसी भूकम्प में पुराने सब लोगों के यकायक समाप्त हो जाने के उपरान्त फिर नये

सिरे से किसी दूसरी जगह से लाकर बसाये गये हों। वास्तविकता यह है कि उन्हीं पुराने लोगों की सन्तान आज भी वहाँ रहती है। किन्तु पुरानी संस्कृति समाप्त हो गयी, पुराने लोगों की जीवनप्रणाली नष्ट हो गयी। अतः हम कहते हैं कि यूनान का पुराना राष्ट्र मर गया। इसी प्रकार मिस्र मिट गया, रोम का अस्तित्व नहीं बचा। अर्थात् संस्कृति इतना महत्त्वपूर्ण तत्व है कि उसके नष्ट होने से सम्पूर्ण राष्ट्र-जीवन का प्रवाह खण्डित हो जाता है। अतः उसके मूल रूप का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

संस्कृति शब्द की उत्पत्ति

वैसे संस्कृति शब्द थोड़ा नया है अर्थात् पुराने संस्कृत वाङ्मय में यह शब्द नहीं मिलता। किन्तु नया होते हुए यह काफी प्रचलित है और हिन्दुस्तान की लगभग सभी भाषाओं में-एकाध को छोड़ दिया जाय तो- इस शब्द का प्रयोग प्रचलित है। संस्कृति शब्द नया होते हुए भी वह शब्द जिससे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है बहुत पुराना है। वह शब्द है संस्कार। सभी इससे परिचित हैं और थोड़ा भी व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृति इससे भिन्न नहीं है। मलयालम भाषा में तो संस्कृति शब्द है नहीं। उसके स्थान पर संस्कार शब्द का ही प्रयोग होता है। संस्कारों का जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है, उनकी मन पर जो अमिट छाप पड़ती है, उसी का समावेश 'संस्कृति' शब्द में होता है।

संस्कार

संस्कार अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। जो कर्म हम करते हैं और उनका जो परिणाम होता है उसे ही हम संस्कार कहते हैं। दूसरे के कर्म का हमारे मन पर जो परिणाम होता है उसे भी संस्कार कहते हैं। साधारणतया 'संस्कार' शब्द में हम बुरे संस्कारों को नहीं गिनते। उन्हें अलग से कुसंस्कार कह कर पुकारते हैं। चरित्रवान् और रूपवान् के समान ही जब हम किसी व्यक्ति को संस्कारी कहते हैं तो उसका अर्थ यही है कि वह अच्छे संस्कारों वाला व्यक्ति है। उसी प्रकार अच्छे संस्कारों के परिणाम और भाव को ही हम संस्कृति कहते हैं। व्यक्ति के अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के संस्कार एवं गुण हैं। वह अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म करता है। इसके कारण उसके चरित्र के अच्छे

और बुरे दोनों पहलू होते हैं। इस सम्पूर्ण चरित्र, कर्म और संस्कारों का समुच्चय वाचक यानी उसका व्यक्तित्व होता है। व्यक्तित्व में अच्छा और बुरा दोनों आ गया, इस पूर्ण व्यक्तित्व में से बुरे को अलग कर जो अच्छा शेष रहता है, उसको शील नाम से अभिप्रेत करते हैं। इस शीलयुक्त संस्कारों का परिणाम ही संस्कृति कहलाता है।

अच्छे बुरे की कसौटी

किन्तु अब प्रश्न उठता है कि अच्छा क्या है बुरा क्या ? देखने पर लगता है कि अलग-अलग राष्ट्रों में अच्छे-बुरे के अलग-अलग मानदण्ड हैं। इनकी भिन्नता के कारण ही एक देश और दूसरे देश की संस्कृति में अन्तर आ जाता है। इसी भिन्नता के परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों के छोटे से लेकर बड़े व्यवहार में भी भेद मालूम पड़ने लगता है। उदाहरण के लिए हम अपने यहाँ नमस्कार करते हैं किन्तु यदि कोई अंग्रेज किसी संस्कारी भारतीय महिला को नमस्कार करने के लिए हाथ आगे बढ़ाये तो कैसा लगेगा ? इन छोटी-छोटी चीजों को लेकर वहाँ के राष्ट्र जीवन की अच्छाई बुराई का पता चलता है। हमारे प्रथम प्रधानमन्त्री वैसे तो हिन्दू संस्कृति पर कतई विश्वास नहीं करते थे किन्तु इस देश की मिट्टी में जन्म लेने के कारण उनके मन पर कुछ संस्कार तो थे ही। उनकी अमेरिका यात्रा के दौरान उन्हें अमेरिका में एक भोज दिया गया। उस भोज में अमेरिका के सभी धनी-मानी लोग एकत्र थे। एक पत्रकार भी वहाँ उपस्थित था। उसने पत्रकारों की आदत के अनुसार वहाँ पर उपस्थित सभी धनियों की माली हैसियत को जोड़कर हिसाब लगाना प्रारम्भ किया और नेहरू से बोला " इस समय आप इतने करोड़ डालरों के मध्य बैठे हैं।" पं. नेहरू को एकाएक यह बात समझ में नहीं आयी। इतने करोड़ डालरों के बीच बैठने का क्या मतलब ? बाद में पत्रकार ने जब स्पष्टीकरण किया तो नेहरू जी को उसकी बात बड़ी विचित्र लगी। उन्हें अटपटा सा लगा कि इस व्यक्ति ने उस सारे भोज का मापन किया तो केवल डालरों में। उन्होंने हँसते हुए कहा, "हमारे देश में मापने का यह मापदण्ड नहीं है। देखने की हमारी दृष्टि दूसरी है। हम अपने जीवन के आदर्श भिन्न रखे हैं।" इसी दृष्टि-भेद की ओर संकेत करते हुए ही स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि "इंग्लैण्ड प्रत्येक चीज को पाउण्ड, शिलिंग, पेन्स में बताता है तो भारत प्रत्येक बात को धर्म की भाषा में बोलता है।" एक देश में

कालानुसार अच्छे-बुरे की कल्पनाओं में अन्तर होता रहता है। अतः किसी काल-विशेष में अच्छे बुरे की कसौटी यही हो सकती है कि जो अपने जीवन-ध्येय की ओर बढ़ाने में साधक हो वह अच्छा और जो अपने ध्येय के लिए असाधक हो वह बुरा। छोटी से छोटी बातों के बारे में निर्णय देते समय भी मनुष्य को अपने ध्येय का ध्यान रखना पड़ता है ।

जीवन ध्येय क्या हो ?

अतः अब विचार करना पड़ेगा कि अपना ध्येय क्या हो जिसके अनुसार हम अच्छे-बुरे का निर्णय करें। भिन्न देशों की जीवन-पद्धति में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह क्यों ? क्या यह परिस्थितिवश अकस्मात् हो गयी अथवा उसके पीछे जीवन की कोई ध्येयोन्मुखी प्रक्रिया है ? जो ईश्वर-विश्वासी हैं वे यह मान सकते हैं कि ईश्वर की सृष्टि उसका योजनाबद्ध प्रयास है। उसने जो कुछ भी बनाया है वह एक दूसरे के पूरक के नाते से बनाया है। यदि कोई ईश्वर को न माने तो प्रकृति में भी यह दीखता है कि यह एक ऐसा चक्र है कि जहाँ सब एक दूसरे के पूरक हैं। एक प्रकार से यहाँ सब लोगों के कार्य (Function) एक दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार प्रत्येक, राष्ट्र की प्रकृति, विशिष्टता और जीवन-दृष्टि तथा ध्येय भगवान् की योजनानुसार ही निश्चित हुआ होगा। हमारे समाजशास्त्र में यह स्वीकार किया गया है कि पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाला प्रत्येक राष्ट्र प्रत्येक जाति-समूह अपने जीवन में कुछ विशेषताएँ लेकर उत्पन्न हुआ है। हम यह नहीं मानते कि बन्दर से आगे जाकर मनुष्य बना, न हम यही मानते हैं कि स्वर्ग से आदम-हौवा नामक स्त्री-पुरुष के जोड़े से मानव जाति उत्पन्न हुई। हम लोग तो यह मानकर चलते हैं कि सृष्टि के आदिकाल तथा बाद में भी जातियाँ पैदा होती है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि वह करोड़ों लाखों में ही पैदा हों। यदि एक दो व्यक्ति पैदा हो गये तो वही एक जाति का प्रतिनिधित्व और विकास करते हैं।

ये जातियाँ भगवान की ओर कुछ निश्चित ध्येय (Mission) लेकर आती हैं। उसी के साथ भगवान् ने शेष सृष्टि भी एक-दूसरे का पूरक करके उत्पन्न की। दाँत दिये तो अन्न भी उपजाया, दाँत नहीं तो दूध पैदा किया। बटेर पैदा की तो उसके खाने के लिये कीड़े भी पैदा किय। साँप पैदा हुआ तो उसकी क्षुधा निवृत्ति के लिए मेढक भी भेजा। सब एक दूसरे के पूरक हैं। पता नहीं भगवान् का जो

यह चक्र चला। उसके साथ क्या योजना है ? जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह योजन विद्यमान है। यदि सबमें कवि की प्रकृति हो तो संसार का क्या होगा ? यदि सब नाचने वाले ही हो जायें तो क्या दृश्य पैदा होगा ? कहने का अर्थ कि उसने गुणों और प्रतिभाओं का विभाजन किया और उन्हें एक-दूसरे का पूरक बनाया। इसी प्रकार जातियों के बारे में है। जाति का सही पर्याय (Caste) नहीं हैं। प्रत्येक जाति भगवान् के पास से कुछ विशेषता लेकर आती है। वह विशिष्ट भावना उस जाति के प्रत्येक मनुष्य में अल्पाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। जो नये लोग उसमें समाविष्ट होते हैं उन्हें भी दाय धर्म के अनुसार मिलती है और उसी जातिगत वैशिष्ट्य या भावना को अपने यहाँ एक Technical नाम 'चिति' दिया गया है। यही राष्ट्र की मूल भावना है जो राष्ट्र के प्रत्येक घटक में सामान्य तत्व (Common Factor) के रूप में रहती है। इसी तत्त्व के आधार पर जीवन के सुख की कल्पना की गयी है। यदि इस दृष्टि के अनुसार सुख मिला तो जीवन सफल अन्यथा नहीं।

जीवन दृष्टि की विभिन्नता के कारण ही प्रत्येक राष्ट्र की सुख की कल्पना भिन्न है। मूलतः कौन सी प्रकृति वह भगवान् के यहाँ से लेकर आया है, इसी पर उसके सुख का महल खड़ा होता है। इस मूल प्रकृति को 'चिति' कहते हैं। यही राष्ट्र का केन्द्र बिन्दु (Nucleus) है। शेष सब तत्त्व इसके लिए पूरक होते हैं। इसके आधार पर जिन-जिन संस्कारों की सृष्टि होती है उन सबसे एवं उन संस्कारों से बनने वाले भाव को मिलाकर हम संस्कृति कहते हैं। अर्थात् यह 'चिति' ही परम सुख की कल्पना का आधार है। इस 'चिति' की अनुभूति के लिए ही मनुष्य सब कार्य करता है। संस्कृति एक गतिमान (Dynamic) कल्पना है, वह वर्द्धमान है, व्यापक है तो 'चिति' स्थायी होती है। वह भगवान् से Nucleus के रूप में जितनी प्राप्त होती है उतनी ही रहती है। वह हमको दाय-धर्म के अनुसार ही मिलती है। 'चिति' के मूल-ध्येय की प्राप्ति के लिए जो हम संस्कार डालते हैं उन संस्कारों का भावात्मक रूप ही संस्कृति कहलाता है। यह वर्द्धमान है, गतिशील है।

प्रकृति, धर्म और संस्कृति

संस्कृति व्यक्ति और समष्टि दोनों से सम्बन्ध रखती है, यद्यपि संस्कृति का भाव मूलतः समष्टिगत होता है। संस्कृति के माध्यम से जीवन के वैशिष्ट्य

अर्थात् समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति होती है। यह सत्य है कि जिस प्रकार ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि के बाद भी दस अंगुल बच रहता है, उसी प्रकार अनेक व्यक्तियों से मिलकर बना होने के बाद भी समाज का अपना एक अलग अस्तित्व और वैशिष्ट्य होता है। इसके साथ ही यह भी उतना ही सत्य है, कि जब समाज क्रियाशील होना चाहता है तो उसे अपनी भावनाओं के प्रकटीकरण के लिए व्यक्तियों के पुरुषार्थ का ही सहारा लेना पड़ता है। आत्मा अमर है और शरीर नश्वर। किन्तु आत्मा शरीर के द्वारा ही कोई कार्य कर सकती है, उसके बिना नहीं। उसी प्रकार समाज भी व्यक्तियों के बिना काम नहीं कर सकता। अतः संस्कृति मूलतः समष्टिगत होते हुए भी उसका सम्बन्ध व्यक्ति से आये बिना रहता नहीं।

व्यक्ति और समाज

अब प्रश्न खड़ा होता है कि व्यक्ति और समाज का परस्पर सम्बन्ध क्या? हमें दिखाई देता है कि व्यक्ति एक ही समय में दो प्रकार का अस्तित्व लेकर चलता है। एक ओर तो उसका पूर्णतया पृथक् अस्तित्व है दूसरी ओर वह समाज के अभिन्न घटक के रूप में भी जाना-जाता है। व्यक्ति एक ही समय में दोनों नाते से काम करता है। वह व्यक्ति के नाते भी जीवन प्रकट करता है और समाज के नाते भी। इसलिए दोनों के बीच में योग्य सम्बन्ध स्थापित करना बहुत आवश्यक बात हो गयी है। दुनिया के समस्त समाज-शास्त्रियों, राजनीतिज्ञों एवं दार्शनिकों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित है। इस बारे में भिन्न-भिन्न मत बने हैं। कहीं तो व्यक्ति को ही सर्वोपरि माना है और शेष समाज को उसकी इच्छाओं की पूर्ति करने का साधन मात्र माना गया है। अतः उनके यहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को ही समस्त सामाजिक गठन का केन्द्र बिन्दु माना है। यह विचार पश्चिम का है। दूसरी ओर व्यक्ति का समाज से भिन्न कोई अस्तित्व माना ही नहीं। उनका मत है कि समाज ठीक रहा तो व्यक्ति अपने आप ठीक हो जाता है। व्यक्ति को अपने बारे में बिल्कुल न सोचते हुए केवल समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही खटापट करते रहना चाहिए। व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के सम्बन्ध में उन्होंने उसी प्रकार विचार किया जैसे किसी मशीन के पुर्जे के बारे में किया जाता है। जिस प्रकार कपड़े के थान का एक नमूना देखकर उसी प्रकार के सैकड़ों थान प्राप्त किये जा सकते हैं, उसी

प्रकार एक व्यक्ति को नमूना मानकर उसी नमूने के आधार पर ही सब व्यक्तियों का सामूहिक विचार किया जाता है। उनकी दृष्टि में समूह ही प्रमुख चीज है, व्यक्ति का स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नहीं होता।

ये दोनों विचारधाराएँ आज पश्चिम में चल रही हैं। एक के अनुसार व्यक्ति नगण्य और समाज ही सब कुछ है। दूसरे के अनुसार एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता ही सर्वोपरि है। अब यदि दो व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में संघर्ष खड़ा हो जाय तब क्या हो ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि "यह तो जीवन का स्थायी संघर्ष है, इसका कोई उपाय नहीं। इस संघर्ष में वही टिकेगा जिसके पास अधिक शक्ति होगी। प्रकृति का नियम है कि जो योग्यतम है वह जीवित रहेगा, शेष लोग समाप्त होते चले जायेंगे।"

भारतीय कल्पना

किन्तु हमारी संस्कृति के अनुसार व्यक्ति और समाज का अभिन्न सम्बन्ध होते हुए भी उन दोनों की सत्ता अलग-अलग है। इसलिए हमने दोनों का विचार किया। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की रक्षा के साथ-साथ समाज की सत्ता का भी ध्यान रखने को बताया। कब व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करता है और कब उसे समाज के उपकरण (Instrument) के नाते काम करना पड़ता है- इन दोनों स्थितियों में मेल बैठाने की आवश्यकता है। इसलिए उपनिषदों में कहा है- जो इनमें से एक ही बात का विचार करते हैं वे गलत रास्ते पर चलते हैं। जो लोग केवल व्यक्ति का विचार करते हैं वे अंधकार को प्राप्त होते हैं तो जो केवल समाज का विचार करते हैं वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं। अतः हमें दोनों का ही विचार करना चाहिए। उनका कहना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करके, उसके व्यक्तित्व का संरक्षण करके, उसे विकास का पूरा अवसर दे, हम व्यक्ति को मृत्यु से बचायें, मृत्यु को जीतें और दूसरी ओर समाज का विचार करके हम समष्टि के आधार पर अमरता को प्राप्त करें। एक से मृत्यु को जीतना और दूसरे से अमरता को प्राप्त करना- अर्थात् इन दोनों चीजों का एक साथ मेल बैठाने की दृष्टि से हम लोग विचार करें। उदाहरणस्वरूप रोटी को लें। रोटी जीवन के लिए आवश्यक है पर उसका यह अर्थ तो नहीं कि रोटी खाने वाले लोग मरते ही नहीं। पर कोई व्यक्ति यदि यह सोचकर कि रोटी खाने वाले सब लोग एक-न-एक दिन मर जाते हैं अतः मैं रोटी नहीं खाऊँगा, उपवास

रखना प्रारम्भ कर दे तो उसका अन्त क्या होगा ? निष्कर्ष यह है कि न रोटी खाने से मृत्यु बचती है और न रोटी न खाने से अमरता प्राप्त होती है। जीवित रहने के लिए तो रोटी खाना आवश्यक है पर अमर होने के लिए शरीर से सत्कर्म करना आवश्यक होता है। खाना व्यक्ति के शरीर को कायम रखने के लिए आवश्यक है किन्तु व्यक्ति को अमर होने के लिए समष्टि का सहारा लेना पड़ता है।

प्रकृति और विकृति

इन दोनों का मेल बैठाना आवश्यक है। दोनों का मेल बैठाना ही संस्कृति का मुख्य कार्य है । व्यक्ति को जो प्राप्त होता है उसे हम प्रकृति कहते हैं। प्रकृति में भिन्नता रहती है और प्रकृति के नाते यह भिन्नता व्यक्ति-व्यक्ति में प्रवेश करती है। प्रकृति की ओर से प्राप्त होने वाली सब चीजें हमारा मन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्रकृति के अनुसार ही चलती हैं। प्रकृति का अपना धर्म है। मनुष्य बहुत से कर्म प्रकृति-धर्म के वशीभूत होकर ही करता है। सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त प्रकृति स्वयं भी अपना काम नियम से कर रही है। चाहे स्वप्रेरणा से, चाहे ईश्वर की योजना से- किन्तु उसका प्रत्येक कार्य नियमपूर्वक होता है। उसी प्रकार मनुष्य तथा शेष जीव-जन्तु भी प्रकृति का काम स्वाभाविक रूप से नियमपूर्वक करते जाते हैं। उदाहरणार्थ, श्वासोच्छ्वास प्राकृतिक कर्म है। उसके लिए हमें कोई विचार नहीं करना पड़ता। साँस अपने आप चलती है। साधारणतया मनुष्य प्रकृति के अनुसार कार्य करता है किन्तु यदि कभी वह अपनी बुद्धि के अभिमान में साधारण प्रकृति के पालन में अविचार, अतिरेक अथवा उपेक्षा कर जाता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। उदाहरणार्थ, बढ़िया चीज को भी अधिक खा लेने से पाचनशक्ति ख़राब हो जाती है। अतः इस अतिरेक को बचाना चाहिए। इसको ही लोग 'विकृति' कहते हैं। प्रकृति में जब किसी प्रकार का अतिरेक किया जाता है तो वहाँ पर विकृति आ जाती है। इस विकृति को रोकना तथा प्रकृति को ठीक-ठीक चलाये रखने का काम 'धर्म' करता है।

धर्म

'धर्म' विकृति को रोकता है । इसलिए संस्कृति जिस पहली सीढ़ी से चढ़ती है वह है धर्म की सीढ़ी। हमारे यहाँ कहा गया है, "धर्म से ही प्रारम्भ है

तथा धर्म से धारणा है। किसी भी समाज एवं कार्य की धारणा, उसका अस्तित्व, धर्म के कारण ही बना रहता है। विकृति के कारण ही सब बुराइयाँ तथा रोग आते हैं।" अपने यहाँ कहा गया है, "जब आदमी मिथ्या आहार-विहार करता है तो उसको रोग लग जाते हैं।" यदि हमारा आहार-विहार ठीक रहे, हम प्रकृति के नियमों का ठीक प्रकार पालन करते जायें तो रोग होने का कोई कारण ही नहीं। फिर मनुष्य अपनी पुरी आयु प्राप्त करता है। अतः यह बात हमारे यहाँ 'धर्म' के रूप में समझायी गयी है। मनुष्य अपनी प्रकृति के समस्त नियमों का पालन करता रहे, एक दूसरे के साथ ठीक प्रकार की व्यवस्था रखे, यहाँ पर वास्तव में धर्म आता है।

समष्टिगत 'धर्म'

अब इस 'धर्म' का दूसरा पहलू भी प्रकृति के ही अन्तर्गत आता है। प्रकृति के अनुसार जीवन की धारणा करने के लिए कार्य करते समय अनुभव आता है कि अनेक कार्य ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य अकेला नहीं कर सकता। कई लोगों के साथ मिलकर ही वह कार्य हो पाता है। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य जो कुछ उत्पादन करता है, अपना पूरा समय उसी में लगा देता है। पर अपने अकेले के उत्पादन से ही तो जीवन की सब आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो जातीं। किसी ने अन्न पैदा किया तो किसी ने कपड़ा। दोनों आपस में बॉट कर ही अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकते हैं। समाज में परस्पर सहयोग के, दान-प्रतिदान के, आदान-प्रदान के ऐसे अवसर पग-पग पर उपस्थित होते हैं, वास्तव में हमारा सम्पूर्ण जीवन ही इस लेन-देन के सहारे चलता है। इस लेन-देन एवं पारस्परिक सहयोग की व्यवस्था को ही समाज की व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार १० लोग अपने-अपने व्यक्तित्वों की रक्षा करते हुए साथ मिलकर चल सकें, ठीक प्रकार से काम कर सकें, उनमें कोई टकराव न हो, इसके लिए कुछ-न-कुछ नियम बनाने ही पड़ते हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जैसे सड़क पर मोटरों की टक्कर बचाने के लिए सड़क का नियम (Rule of the Road) बनाया गया है। ये सारे नियम और व्यवस्थाएँ व्यक्ति की अपनी प्रकृति की रक्षा के लिए भी आवश्यक हैं। व्यक्ति को अपने प्राकृतिक हितों के सम्पादन के लिए व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता पड़ती है। अतः समाज-जीवन में कुछ व्यवस्थाएँ निर्धारित करनी ही पड़ती हैं। ये

समस्त व्यवस्थाएँ 'धर्म' के अन्दर आती हैं। इसमें कहीं भी संस्कृति नहीं आती। यहाँ तक सब काम 'धर्म' के आधार पर होता जाता है।

संस्कृति और धर्म

किन्तु जब हम अपनी व्यक्तिगत प्रकृति का विचार न करके समष्टि का ही विचार करते हैं, व्यक्ति की प्रकृति को समष्टि-प्रकृति अर्थात् समाज का विरोधी न बनाते हुए चलाना चाहते हैं, तब वास्तव में संस्कृति आती है। यह दूसरी सीढ़ी है। इसकी एक ही चिन्ता रहती है कि व्यक्ति की प्रकृति को समाज विरोधी न बनाते हुए उसे सामूहिक कर्त्तव्यों द्वारा कैसे स्वस्थ रखा जाय। अतः जहाँ व्यक्ति निज प्रकृति की कोई चिन्ता न करके केवल समष्टिगत एवं परार्थ भाव से कार्य करने को प्रवृत्त होता है, वहीं संस्कृति प्रारम्भ होती है। संस्कृति के मोटे-मोटे लक्षण देखना ही हो तो हम कोई भी कार्य करते समय विचार करें, 'यह कार्य निजी स्वार्थ से प्रेरित तो नहीं ?' अगर उसके मूल में स्वार्थ नहीं है तो वह संस्कृति के अनुसार कार्य हुआ। इसका अर्थ यह नहीं कि हम स्वार्थ को पूर्णतया बुरा मान लें। प्रकृति की रक्षा के लिए कुछ अंशों तक स्वार्थ बहुत ही आवश्यक है। वास्तव में 'स्वार्थी' शब्द वहीं खराब होता है जहाँ अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अन्यों के स्वार्थ को हानि पहुँचायी जाती है। यदि किसी के स्वार्थ को हानि न पहुँचाते हुए अपना स्वार्थ पूर्ण किया जाय तो वह बुरा नहीं। क्योंकि यह साधारण प्रवृत्ति है। किन्तु जब हम संस्कृति का विचार करते हैं तो हमें यह देखना पड़ता है कि हमारे कार्य शुद्ध परार्थ भाव से हों। तभी हम कह सकेंगे कि अपने कार्य की प्रेरणा संस्कृति से पाते हैं।

☆

चिति (१)

जब कोई राष्ट्र परकीय सत्ता के आधीन रहता है तो उस राष्ट्र की राष्ट्रीयता तथा उस देश के निवासियों की देश-भक्ति का एकमेव लक्ष्य उस सत्ता को दूर करना हो जाता है। जो परकीय सत्ता का विरोध करता है, वह देशभक्त गिना जाता है, जिन साधनों से उस सत्ता का प्रभुत्व नष्ट होता हो वही देश-भक्ति समझी जाती है। ऐसे समय में जन साधारण के समक्ष राष्ट्र-भक्ति का यही विरोधात्मक स्वरूप रहता है और इस प्रकार की अभावात्मक कल्पना के आधार पर कार्य करने वाले अपने पक्ष को दृढ़ करने की इच्छा से उस प्रत्येक समूह को अपने में मिलाने की इच्छा करते हैं, जिसका शासक सत्ता से परकीयत्व का सम्बन्ध हो। यह समान आपत्ति अथवा समान शत्रुत्व ही एकता का एकमात्र सूत्र रहता है तथा इस आधार पर कई बार राष्ट्रीय आन्दोलनों को चलाया जाता है। परकीय सत्ता के लिए जनता के मन में अधिक से अधिक विद्वेष उत्पन्न करना आवश्यक समझकर, जनता के सम्पूर्ण दुःखों का दोष उस सत्ता के सर मढ़ा जाता है। दैहिक, दैविक और भौतिक सब प्रकार के दुःखों का मूल परकीय सत्ता ही कही जाती है। चाहे संसार व्यापी अर्थ-संकट से देश आक्रान्त हो, चाहे अपने ही दोषों के कारण सामाजिक कुरीतियों से परिपूर्ण हो, चाहे भौतिक कारणों से-भूकम्प अनावृष्टि और अतिवृष्टि हो- चाहे अपनी ही अस्वच्छता के परिणामस्वरूप हैजा और प्लेग का प्रकोप हो, चाहे शासन-यन्त्र की बुराइयों के कारण जनता पिसती हो और चाहे झूठी धार्मिकताजन्य अज्ञान का शिकार बनकर लुटती हो, सबके लिए दोष शासन करने वाली परकीय सत्ता के ऊपर ही मढ़ा जाता है। पारतन्त्र्य को नष्ट करने के लिए शासक वर्ग के प्रति घृणा और विद्वेष का प्रचार करके जनमत को तैयार करने के लिए जहाँ वह दोषारोपण आवश्यक है। वहाँ यह सत्य भी उसके पीछे छिपा रहता है कि दुःख का कारण चाहे शासकवर्ग हो या न हो किन्तु शासक

वर्ग के कारण जनता इन दुःखों को दूर करने में अपना पुरुषार्थ प्रकट नहीं कर पाती है। अतः अपनी असहाय अवस्था में दुःख झेलते हुए परकीय सत्ता को दोषी ठहराना स्वाभाविक ही हो जाता है।

राष्ट्र-जीवन का प्रत्येक क्षेत्र परकीयों से आक्रान्त होने के कारण उस सत्ता के विरोधी थोड़े-बहुत प्रत्येक क्षेत्र से निकल आते हैं। किसी के स्वार्थ पर आघात पहुँचता है तो किसी के स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है; किसी की योजनाएँ असफल होती हैं तो किसी को अपनी शक्ति के विकास का अवसर नहीं मिल पाता है। इस प्रकार अपने-अपने हितों पर आघात होने के कारण यह विरोधियों का दल खड़ा हो जाता है। अपनी-अपनी इच्छा पूर्ति की आशा लेकर स्वयं को केन्द्र मानते हुए सुन्दर, स्वर्णिम भविष्य के स्वप्न लेकर सबके सब पराये राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उसके लिए त्याग करते हैं, कष्ट सहन करते हैं, यातनाएँ भुगतते हैं। इस दौड़ में जो सबसे आगे बढ़ता है अथवा अपने आपको बढ़ता हुआ बतला पाता है वही सबसे बड़ा देश-भक्त हो जाता है, उसके दर्शनों को भीड़ टूट पड़ती है। उसके नाम की जय-जयकार होती है, उसके शब्द जादू का काम करते हैं। राष्ट्र-पुरुष सजग हो जाता है, राष्ट्र उठता हुआ मालूम देता है। राष्ट्रीय भावना प्रबल हो उठती है।

राष्ट्रीय भावना के इस प्रबल ज्वार में अथवा अन्य किन्हीं कारणों से यदि परकीय सत्ता नष्ट हो जाय अथवा अप्रत्यक्ष होकर आँखों से ओझल हो जाये तो यकायक इस विरोधात्मक राष्ट्रीयता के समक्ष एक बड़ा भारी प्रश्नवाचक चिह्न आकर खड़ा हो जाता है। देश-भक्ति और राष्ट्रीयता का आश्रयस्थान परकीय सत्ता तो लुप्त हो गयी, क्या परतन्त्र देशों में ही देशभक्त होते हैं, राष्ट्रीयता के लिए क्या पराधीनता ही आवश्यक है ? नहीं। तब विचार करना पड़ेगा कि देश-भक्ति क्या है ? उसका कोई रचनात्मक आधार होता होगा। यदि यह रचनात्मक आधार न रहा तो बड़े-बड़े देश-भक्त भी देश-भक्ति के नाम पर स्वार्थ का सौदा करने लग जायेंगे। अपने नाम व पद के लिए देश के हितों का भी बलिदान करने को तैयार हो जायेंगे। अतः देश-भक्ति की एक भावात्मक (Positive) कल्पना चाहिए, रचनात्मक आधार चाहिए और वह भी चाहिए चिरन्तन नियमों के अनुसार। अन्यथा देश-भक्ति का महल बालू की नींव पर बनाये महल के समान वायु के प्रकम्प मात्र से ही ढह जायेगा।

इस रचनात्मक आधार को समझाने के लिए हमको अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करनी होगी। परकीय सत्ता के स्थान पर अपने देश और राष्ट्र का ही विचार करना होगा। हम तनिक गहराई में जाकर विचार करें कि परकीय सत्ता का विरोध हम क्यों करते हैं ? क्या इसीलिए कि परकीय सत्ता की स्थिति के कारण हमारी आर्थिक दशा बिगड़ जाती है ? हमारे यहाँ बेकारी और निर्धनता का राज्य है; हमको बड़ी-बड़ी नौकरियाँ नहीं मिलतीं, राज्य के कार्य-भार में हमारा कोई स्थान नहीं है, हमारे व्यक्तिगत स्वाभिमान को कहीं ठेस पहुँचती है, आदि। इन बातों पर विचार करेंगे तो मालूम होगा कि ये ऊपरी कारण होते हुए भी सत्य इनके पीछे नहीं है। जो आज परकीय सत्ता का विरोध कर रहा है, कल यदि उसे नौकरी मिल जाये और वह विरोध करना छोड़ दे तो क्या उसे देश-भक्त कहेंगे ? निर्धन होकर विरोध करने वाला देश-भक्त क्या शासकवर्ग से खरीदा जाने पर भी हमारी श्रद्धा का केन्द्र बना रहेगा ? राज्य में जिसको कोई पद प्राप्त नहीं है कल प्राप्त करके वह शासक वर्ग की हाँ में हाँ मिलाने लगे तो क्या उसके शब्दों में वही जादू रह जायेगा जो कि एक देश-भक्त के शब्दों में होता है। देश-भक्त तो धन, वैभव और पद को ठुकराकर उल्टा निर्धनता,अभाव और सेवा-व्रत को स्वीकार करता है और इसी में उसकी महानता रहती है।

कहा जा सकता है कि परकीय सत्ता की विरोधी देशभक्ति में, निर्धनता, बेकारी, पदहीनता न होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की गरीबी और बेकारी का प्रश्न रहता है। सम्पूर्ण राष्ट्र के ये प्रश्न हल होने चाहिए।

राष्ट्र की कल्पना में ही देश-भक्ति का रहस्य छिपा हुआ है। हम अपने स्थान पर सम्पूर्ण राष्ट्र की चिन्ता क्यों करते हैं ? क्या इसलिए कि इन प्रश्नों को एकाकी हल करने के स्थान पर सब लोग मिलकर हल करें तो आसानी से हल कर सकेंगे? राष्ट्र के वैभव की चिन्ता क्या इसलिए है कि उसमें हमारा भी वैभव सन्निहित है ? यदि यही स्वार्थपरक भावना हमारे मन में रही तो हमारी राष्ट्रीयता केवल चोर और डाकुओं के गठबन्धन के समान हो जायेगी। चोर और डाकू भी तो एक दूसरे के साथ मिलकर काम करते हैं, एक दूसरे की रक्षा करते हैं, अपने-अपने नेता की आज्ञा का पालन करते हैं तथा अपने स्वार्थों का त्याग समूह के स्वार्थ के लिए करते हैं। ऊपर से ये सब अच्छी बातें होते हुए भी हम जानते हैं कि इनका गठबन्धन न तो चिरन्तन होता है और न मानवता के

कल्याण के लिए ही होता है। एक तो लूट के पश्चात् बँटवारे के लिए उनमें आपस में ही लडाई होकर फूट पड़ जाती है, नहीं तो वे मिलकर दूसरे लोगों को लूटते रहते हैं। दोनों ही स्थितियाँ हानिकारक रहती हैं। राष्ट्रीयता भी यदि इसी प्रकार के आर्थिक कारणों की प्रेरणा का फल हुई तो या तो व्यक्तिगत और वर्ग स्वार्थ के कारण आपस में झगड़ा होगा अथवा पश्चिम के कुछ राष्ट्रों के समान पीड़ित मानवता की दुहाई देकर भी अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के लिए दूसरे राष्ट्रों को गुलाम बनाते हुए निरन्तर विश्व-युद्ध में संलग्न मानवता के लिए आपत्ति का कारण बनेंगे। यह आर्थिक अधिकार न तो सत्य है और न शिव और न सुन्दर ही।

राष्ट्र के प्रति भक्ति तथा अपने राष्ट्र के जनसमूह के प्रति सहानुभूति की भावना का मूल कारण न तो हमारी यह स्वार्थों की एकता है और न शत्रुत्व या मित्रत्व ही। हमारी देश-भक्ति तो अपने राष्ट्र के सम्पूर्ण जनसमाज के प्रति एक ममत्व की भावना के कारण है जो कि एकात्मकत्व का परिणाम है। व्यक्ति की आत्मा के समान ही राष्ट्र की भी आत्मा होती है। इसी के परिणामस्वरूप राष्ट्र में एकात्मता फूटती है। राष्ट्र की इस आत्मा को हमारे शास्त्रकारों ने 'चिति' कहा है।

भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की भिन्न 'चिति' होती है। 'चिति' की भिन्नता के कारण ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के शासन में होने पर अपने को परतन्त्र समझता है, यों तो मनुष्य का मनुष्य पर राज्य सदा ही रहता है, स्वतन्त्र राष्ट्र में भी सरकार होती है, वहाँ भी शासन सम्बन्धी नियम होते हैं, और बन्धन भी होते हैं। राष्ट्र की आपत्ति के काल भी रहते हैं। किन्तु उस स्थिति में कोई भी देश-भक्त दुःख नहीं मानता है, सहर्ष आपत्तियाँ झेलता है, निर्धनता का जीवन भी सुख से बिताता है।

'चिति' ही राष्ट्रत्व का द्योतक है। यही 'चिति' जन-समूह के देश विशेष पर निवास के कारण उसकी संस्कृति, साहित्य और धर्म में व्यक्त होती है। 'चिति' की एकता ही समान परम्परा, इतिहास और सभ्यता का निर्माण करती है। अतः किसी भी राष्ट्र की एकता के लिए मूल कारण संस्कृति, सभ्यता, धर्म, भाषा आदि की एकता नहीं; ये तो मूल कारण एक 'चिति' के व्यक्त परिणाम हैं। अतः ऊपर से प्रयत्न करके भी भिन्न-भिन्न 'चिति' के लोगों में भाषा, धर्म,

सभ्यता आदि की एकता निर्माण करने पर भी राष्ट्रीय एकता नहीं हो सकती है। शरीर के अंगों के केवल एकत्रीकरण मात्र से जीवन नहीं होता है किन्तु आत्मा की स्थिति ही जीवन और चैतन्य की दात्री होती है। व्यक्ति की आत्मा की एकता ही उसके व्यक्तित्व की विशिष्टताओं तथा उसके चरित्र की एकता में व्यक्त होती है। शरीर और अंग का एक दूसरे का सम्बन्ध, प्रत्येक अंग का शरीर के लिए काम करना और परिणामस्वरूप सम्पूर्ण शरीर के साथ-साथ प्रत्येक अंग का भी पालन-पोषण और पुष्ट होते जाना यह समष्टि-जीवन का भाव भी आत्मा की उपस्थिति के कारण ही है, कोई स्वार्थ भावना इसके पीछे नहीं हैं। बस राष्ट्र की सम्पूर्ण एकता, उसका समष्टि जीवन राष्ट्र की आत्मा 'चिति' के परिणामस्वरूप ही होता है।

'चिति' के प्रकाश से ही राष्ट्र का अभ्युदय होता है और 'चिति' के विनाश से राष्ट्र का अधःपात् होता है। परतन्त्र अवस्था से 'चिति' आक्रान्त होती है। जन समाज में उसका प्रकाश अत्यन्त क्षीण हो जाता है। केवल कुछ शुद्ध और सात्विक वृत्ति के लोगों में ही उसका आविर्भाव रहता है। 'चिति' के इस प्रकाश को उज्ज्वल बनाने का ही कार्य देश-भक्त का मुख्य कार्य होता है। इसी के परिणामस्वरूप देश के बन्धन कटते हैं और उसके पश्चात् भी इसका प्रकाश बढ़ते-बढ़ते राष्ट्र-जीवन को पुष्ट बनाता है, उसको चिरंतन करके मानव कल्याण की ओर ले जाता है। यही आत्मसाक्षात्कार राष्ट्र-जीवन का मुख्य ध्येय होता है। राष्ट्र को इस आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर ले चलने वाला ही देशभक्त होता है, केवल विदेशियों का विरोध करने वाला नहीं। राष्ट्र की आत्मा का यदि यह साक्षात्कार न हुआ, अपितु आत्मा उसी प्रकार आक्रान्त और निमग्ना रही अथवा अपनी 'चिति' के ऊपर अन्य राष्ट्र की 'चिति' का प्रभाव रहा तो जातीय जीवन के उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष ही होता है। इस प्रकार 'चितियों' के संघर्ष में यदि देशीय 'चिति' बलवती न हुई तो अन्त में राष्ट्र-जीवन नष्ट हो जाता है तथा उसका स्थान दूसरा राष्ट्र ले लेता है।

आज भारत के समक्ष यही प्रश्न है। अभी तक हमारे राष्ट्रीय कहे जाने वाले आन्दोलनों का केवल अंग्रेज-विरोधी स्वरूप था। सब प्रकार के कारणों को इकट्ठा करके एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करने का प्रयत्न किया गया, उसमें भारत के अधिक से अधिक जनसमूह को एकत्र करके उनमें राष्ट्रीय समानता

निर्माण करने का प्रयत्न किया गया। 'चिति' का आधार न होने के कारण उस राष्ट्रीयता का रचनात्मक स्वरूप दृढ़ न हो सका, यह आज स्पष्ट ही है। बाह्याङ्गों से आत्मा का सृजन सम्भव नहीं है।

आज हमारे विरोध का आश्रयस्थान अप्रत्यक्ष हो गया है। ऐसे समय में हमको रचनात्मक देश-भक्ति की ओर विशेष दृष्टि देने की आवश्यकता है। हम अपने जातीय जीवन की 'चिति' को पहचान कर उसको प्राकृत संस्कारों के द्वारा बलवती करने का प्रयत्न करें इसी में हमारे राष्ट्र का चिरकल्याण है। उसी के द्वारा हम मानवता की सेवा करने में समर्थ हो सकेंगे और तभी सफल होगा हमारा चिराकांक्षित ध्येय-

"सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।"

चिति (२)

किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व उसकी 'चिति' के कारण होता है। 'चिति' के ही उदयावपात से राष्ट्र का उदयावपात होता है। भारतीय राष्ट्र के भी उत्थान और पतन का वास्तविक कारण हमारी 'चिति' का प्रकाश अथवा उसका अभाव है। आज भारत उन्नति की आकांक्षा कर रहा है। संसार में बलशाली एवं वैभवशाली राष्ट्र के नाते खड़ा होना चाहता है। चारों ओर लोग इस ध्येय का उच्चारण कर रहे हैं तथा उनके लिए प्रयत्नशील भी हैं। ऐसी दशा में हमको अपनी 'चिति' का ज्ञान करना आवश्यक है। बिना 'चिति' के ज्ञान के, प्रथम तो हमारे प्रयत्नों में प्रेरक शक्ति का अभाव रहने के कारण वे फलीभूत नहीं होंगे; द्वितीयतः मन में भारत के कल्याण की इच्छा रखकर और उसके लिए जी तोड़ परिश्रम करके भी हम भारत को भव्य बनाने के स्थान पर उसको नष्ट कर देंगे। स्वप्रकृति के प्रतिकूल किये हुए कार्य के परिणामस्वरूप जीवन में जो परिवर्तन दिखाई देता है, वह विकास के स्थान पर विनाश का द्योतक है और इस प्रकार **'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'** की उक्ति चरितार्थ होती है।

हमारे राष्ट्र-जीवन की 'चिति' क्या है ? हमारी आत्मा का क्या स्वरूप है ? इस स्वरूप की व्याख्या करना कठिन है; उसका तो साक्षात्कार ही सम्भव है, किन्तु जिन महापुरुषों ने राष्ट्रात्मा का पूर्ण साक्षात्कार किया, जिनके जीवन में 'चिति' का प्रकाश उज्ज्वलतम रहा है; उनके जीवन की ओर देखने से, उनके जीवन की क्रियाओं और घटनाओं का विश्लेषण करने से, हम अपनी 'चिति' के स्वरूप की कुछ झलक पा सकते हैं। प्राचीन काल से लेकर आज तक चली आने वाली राष्ट्र-पुरुषों की परम्परा के भीतर छिपे हुए सूत्र को यदि हम ढूँढें तो संभवतया 'चिति' के व्यक्त परिणाम की मीमांसा से उसके अव्यक्त कारण की भी हमको अनुभूति हो सके। जिन महान् विभूतियों के नामस्मरण मात्र से हम अपने जीवन में दुर्बलता के क्षणों में शक्ति का अनुभव

करते हैं, कायरता की कृति का स्थान वीरव्रत ले लेता है, उनके जीवन में कौन सी बात है, जो हममें इतना सामर्थ्य भर देती है ? कौन सी चीज है जिसके लिए हम मर मिटने के लिए तैयार हो जाते हैं? हमारा मस्तक श्रद्धा से किसके सामने नत होता है और क्यों ?

वह कौन सा लक्ष्य है जिसके चारों ओर हमारा राष्ट्र-जीवन घूमता आया है ? अपने राष्ट्र के किस तत्त्व को बचाने के लिए हमने बड़े-बड़े युद्ध किये ? किसके लिए लाखों का बलिदान हुआ ? उत्तर हो सकता है– भारत की भूमि के लिए। किन्तु भारत से तात्पर्य क्या वह जड़ भूमि से है ? क्या हमने हिमालय के पत्थर और गंगा के जल की रक्षा की है ? हमारे अवतारों ने किस हेतु जन्म लिया था ? उनको हम भगवान् का अवतार क्यों कहते हैं ?

उपर्युक्त अनेक प्रकार के प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का यदि हम उत्तर दें तो हमको अपनी 'चिति' का पता चल सकता है। हमारे शास्त्रकारों ने इसको 'धर्म' के नाम से पुकारा है। आज धर्म शब्द के भ्रमपूर्ण अर्थ प्रचलित हो गये हैं। अंग्रेजी के 'रिलीजन' का पर्यायवाची मानकर तथा 'रिलीजन' और 'दीन' के नाम पर यूरोप तथा अन्य देशों में जो-जो अमानुषिक अत्याचार हुए हैं उनका सम्बन्ध इसके साथ बिठाकर, लोग धर्म शब्द से चिढ़ने लग गये हैं। वे धर्म को नष्ट करने पर तुले हुए हैं अथवा उनमें जो नरम दल के हैं वे धर्म को केवल व्यक्तिगत जीवन तक सीमित चाहते हैं। राष्ट्र और समाज का धर्म से वे कोई सम्बन्ध नहीं मानते। जहाँ तक 'धर्म' से उनका तात्पर्य 'रिलीजन' से है, वे सही हो सकते हैं। किन्तु धर्म का अर्थ तो व्यापक है और इस व्यापक अर्थ के पीछे जो भाव हैं: वे ही भाव भारत की कोटि-कोटि जनता में धर्म शब्द को सुनकर उत्पन्न होते हैं। आज राम और कृष्ण हमारे धर्म के महापुरुष कहे जाते हैं। क्या वे किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं ? कौन सा राष्ट्र-भक्त उनकी स्मृति को भारत से मिटा देना चाहेगा ? रामायण और महाभारत हमारे धर्मग्रन्थ हैं। क्या वे हमारे लिए अपठनीय हैं ? क्या उनमें आज के राष्ट्रजीवन को प्रेरणा देने वाला कुछ भी नहीं है? हमारा धर्म हमको गंगा को पवित्र मानना सिखाता है, हमारा धर्म हमको चारों धाम की यात्रा द्वारा भारत भूमि की परिक्रमा करने को कहता है। क्या यह राष्ट्र-भक्ति की उज्ज्वलतम भावना ही नहीं है ?

हमारा धर्म हमारे राष्ट्र की आत्मा है। बिना धर्म के राष्ट्र-जीवन का कोई

अर्थ नहीं रहता। भारतीय राष्ट्र न तो हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए भू-खण्ड से बन सकता है और न तीस करोड़ मनुष्यों के झुण्ड से। एक ऐसा सूत्र चाहिए तो तीस करोड़ को एक दूसरे से बाँध सके, जो तीस कोटि को इस भूमि से बाँध सके। वह सूत्र हमारा धर्म ही है। बिना धर्म के भारतीय जीवन का चैतन्य ही नष्ट हो जायेगा, उसकी प्रेरक-शक्ति ही जाती रहेगी। अपनी धार्मिक विशेषता के कारण ही संसार के भिन्न-भिन्न जनसमूहों में हम भी राष्ट्र के नाते खड़े हो सकते हैं। धर्म के पैमाने से ही हमने सबको नापा है। धर्म की कसौटी पर ही कसकर हमने खरे-खोटे की जाँच की है। हमने किसी को महापुरुष मानकर पूजा है तो इसलिए कि उनके जीवन में पग-पग पर हमको धार्मिकता दृष्टिगोचर होती है। राम हमारे अराध्यदेव बनकर रहे हैं और रावण सदा से घृणा का पात्र बना है। क्यों ? राम धर्म के रक्षक थे और रावण धर्म का विनाश करना चाहता था। युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों भाई-भाई थे, दोनों ही राज्य चाहते थे, एक के प्रति हमारे मन में श्रद्धा है तो दूसरे के प्रति घृणा।

केवल धर्म के भाव अथवा अभाव के कारण ही एक स्थान पर एक को बुरा मानते हैं तो दूसरे स्थान पर उसी को अच्छा कहते हैं। इसी के लिए देशद्रोही विभीषण परम वैष्णव हुआ और सुई के बराबर भी भूमि न देने को तैयार दुर्योधन विष्णुद्रोही गिना गया। एक ओर राजभक्ति को हमने माना है तो धर्म के लिए ही ऋषियों ने वेन को राज्यच्युत किया था। धर्म के लिए ही श्रवणकुमार अपने माता-पिता को कन्धे पर लिए-लिए घूमा, धर्म के लिए ही प्रह्लाद ने हिरण्यकशिपु का विरोध किया। राम ने एक पत्नी व्रत का पालन करके धर्म की रक्षा की तो कृष्ण ने अनेकों विवाह करके उसी धर्म को निबाहा। अपने इतिहास में अनेक ऐसे श्रद्धास्पद उदाहरण मिलेंगे जिनमें इस प्रकार का विरोधाभास होगा, उनकी निराकृति केवल धर्म के भाव से ही सम्भव है।

हम अपने जीवन में धर्म को महत्त्व देकर ही प्रत्येक कार्य करते हैं। हमारा उठना-बैठना, सोना, खाना, पीना सबके पीछे धर्म का भाव रहता है। इसीलिए स्मृति ग्रन्थों में उनके सम्बन्ध में नियम दिये हुए हैं। स्मृति ग्रन्थों को सभी धर्म-ग्रन्थ मानते हैं। हमारा साहित्य लोककल्याण की धार्मिक भावना से ही प्रेरणा लेता है– कवि अपनी रचना 'स्वान्तः सुखाय' करते हुए भी अंतःकरण में आत्मा के साक्षात्कार की अनुभूति में सुख लेता हुआ धार्मिक प्रवृत्ति की

उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है। क्या कोई कवि भारत में हुआ है जिसके काव्य में एक-एक पद में राष्ट्रात्मा की पुकार हो और वह धार्मिक भावना से परिपूर्ण न हो। हमारे बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, समर्थ, चैतन्य और नानक कवि थे, साथ में ही ऋषि और सन्त भी थे। हमारे धर्म को अपने आचरण में लाने वाले आदर्श महापुरुष थे। इसीलिए उनके शब्द राष्ट्र के शब्द हो गये हैं: उनकी वाणी युग-युग में राष्ट्र-जीवन का संचार करती आयी है। हमारे राजनीतिज्ञ, आचार्यो ने भी राजनीति पर धर्म का पुट चढ़ाया है। शुक्राचार्य और चाणक्य धर्मविहीन राजनीति के पोषक नहीं थे। धर्महीन राजनीति का कोई अर्थ ही नहीं है। हमारे सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञ धर्म समझकर किये या राजनीति समझकर ? राणा प्रताप का अकबर से युद्ध राजनीति के क्षेत्र में आता है या धर्म के क्षेत्र में। शिवाजी और गुरुगोविन्द सिंह राजनीतिक नेता हैं या धार्मिक। दयानन्द और विवेकानन्द के कार्य का भारत की राजनीति और राष्ट्र पर क्या कोई प्रभाव नहीं है ? गांधीजी के भारतव्यापी प्रभाव के पीछे उनका महात्मापन, उनका धार्मिकपन है या राजनीति ? स्वदेशी आन्दोलन में फाँसी के तख्ते पर गीता की प्रति लेकर चढ़ने वाले क्रान्तिकारी वीरों में धार्मिक प्रेरणा थी या राजनीतिक ? हम देखते हैं कि दोनों को अलग नहीं कर सकते। हमारी राजनति, हमारी धार्मिक वृत्ति का ही परिणाम है, अपनी धार्मिकता की रक्षा करने की एक साधन मात्र है। यह धार्मिक प्रवृत्ति हमारे राष्ट्र में इतनी व्यापक है कि उससे कोई क्षेत्र अछूता नहीं रहता। वर्णाश्रम धर्म समाज की एक प्रणाली है किन्तु हमने इसको धर्म की वेषभूषा से सुसज्जित किया है। विवाह (Biological and Sociological) जीवन और समाज की एक आवश्यकता है, हमने इसको धर्मकृत्य माना है। सन्तानोत्पत्ति हम धर्म समझकर करते हैं तो सन्तान भी माता-पिता की सेवा धर्म समझकर ही करती है। मरने के बाद श्राद्ध क्रिया भी धर्म मानकर की जाती है। यद्यपि इन सब कार्यों की तह में समाज रचना, जाति की सनातन परम्परा (Continuity of race) तथा राष्ट्रत्व है। हम नित्य बड़े-बूढ़ों की वन्दना करते हैं, यह हमारा धर्म है। हम नित्य स्नान करते हैं- यह गाँव का कोई भी व्यक्ति बतायेगा कि उसका धर्म है। इसलिए कर्मकाण्डी लोग बीमारी की अवस्था तक में स्नान करते हैं। बिना स्नान नहीं रह सकते। बिना स्नान के भोजन न करना धर्म ही है। कुएँ पर जूते ले जाना अधर्म है। भोजन को स्वच्छतापूर्वक बनाना धर्म है।

अपने-अपने घर में तुलसी हम धर्म समझकर ही रखते हैं, वह मलेरिया नाशक है, यह समझकर नहीं। स्वच्छता और स्वास्थ्य (Santitations Hygiene) के सभी नियम धर्म बन गये हैं। हमारा कृषक बीज बोता है, उसके पीछे धर्म-भावना छिपी है। धर्म-भावना के कारण ही, चाहे वह आज विकृत क्यों न हो गयी हो, बहुत स्थानों पर ब्राह्मण हल को हाथ नहीं लगाता है। विद्यार्थी गुरु की सेवा करता है, गुरु विद्यार्थी को पुत्रवत् मानता है, इन दोनों के पीछे धर्म की भावना हैं, स्कूल मैनेजमेन्ट ऐण्ड डिस्सिप्लिन (School management and discipline) की भावना नहीं। जितने ही उदाहरण हम लें सबमें हमको यह दिखाई देगा कि जीवन के प्रत्येक कृत्य को हमने धार्मिक रंग में रंगा है और धर्म से प्रेरणा लेकर ही हमने अपने जीवन की रचना की है। और इसीलिए अनेक विद्वानों ने कहा भी है कि भारत धर्म प्राण देश है। आज अपनी इस आत्मा की प्रेरणा को अचेतन से चेतन के क्षेत्र में लाने पर ही राष्ट्र-जीवन में जो विकृति दिखाई देती है, जो विक्षुब्ध, संघर्षमय, अनिश्चितता की अवस्था है, वह दूर की जा सकती है।

☆

राष्ट्रात्मा व विश्वात्मा

राष्ट्रीयता यद्यपि मूलतः भावात्मक है, तथापि उसके विरोधात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति यदा-कदा होते हुए भी इतनी प्रबल है कि जन-साधारण ही नहीं बड़े-बड़े विचारक भी उसकी वास्तविकता को भूल जाते हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के बीच संघर्ष से उत्पन्न युद्ध और उसकी विभीषिका से वे इतने पीड़ित हैं कि उससे बचने के लिए वे राष्ट्र और राष्ट्रीय भावना को ही अवाञ्छनीय और अशुद्ध बताकर समाप्त कर देना चाहते हैं किन्तु यह सिर में दर्द होने पर सिर को फोड़ देने के समान होगा। आँखों को वासना का मूल जानकर सूरदास ने आँखे फोड़ ली थीं। आज विश्व के अनेक विचारक सूरदास बनना चाहते हैं। जीवन और आँख का भावात्मक सम्बन्ध उन्हें नहीं सूझता।

पारस्परिक संघर्ष का भूत

सृष्टि के विकास की जीवन-संघर्षात्मक कल्पना सम्मुख रखने के कारण पश्चिम के विद्वानों को जगत् की हर इकाई संघर्ष करती हुई दिखाई देती है। उनके अनुसार दो या अधिक इकाइयों में मेल तथा तज्जनित नवीन निकाय का अस्तित्व भी अन्य अधिक बलवती शक्ति के साथ संघर्ष करने के लिए होता है। डारविन ने प्राणिशास्त्र का, हेगेल ने दर्शन का तथा मार्क्स ने इतिहास का विवेचन इसी आधार पर किया। नीत्से की जिन कल्पनाओं की परिणति हिटलर के नाजीवाद में हुई उसका मूल इसी सिद्धान्त में है। पूँजीवादी अर्थशास्त्र इस संघर्ष और प्रतियोगिता के सिद्धान्त को ध्रुव सत्य और वैज्ञानिक तथ्य मानकर चलता है। इसी संघर्ष को सामुदायिक एवं संघटित स्वरूप देकर एक वर्ग को समाप्त कर वर्ग विहीन समाज की कल्पना लेकर साम्यवाद चला है। ये सब राष्ट्र को संघर्ष के साधक अथवा बाधक के रूप में देखते हैं। जो राष्ट्रीय के हामी हैं वे इसलिए कि वे जो संघर्ष करना चाहते हैं, उसमें राष्ट्रीय भावना उनकी सहायक होती है, और जो राष्ट्रीयता को मिटा देना चाहते हैं वे केवल

इसलिए कि जिस आधार पर विश्वसंघर्ष की वे कल्पना करते हैं उससे राष्ट्रीयता बेमेल है तथा हानि पहुँचा सकती है।

संघर्षात्मक विवेचन के आधार पर संघर्ष विहीनता कैसे ?

पश्चिम के इस दर्शन की उत्पत्ति का आधार ईश्वर और शैतान के बीच चलने वाली ईसाई कल्पना में हो सकता है । शैतान के चंगुल से बचकर ईश्वर की शरण में जाने के लिए जैसे ईसाई सम्प्रदाय की निर्मिति हुई वैसे ही रक्षात्मक और विभेदात्मक आधार पर मानव की अन्य संस्थाओं की, जिनमें राष्ट्र भी आता है, सृष्टि हुई है।

जीवन का यह दर्शन जिस सहयोग, प्रेम और एकात्मता की आकांक्षा लेकर ये विचारक प्रयत्नशील हैं उससे मेल नहीं खाता। संघर्षात्मक विवेचन के आधार पर संघर्ष-विहीन समाज की निर्मित नहीं हो सकती।यदि मानव का अथवा प्राणिमात्र का मूल स्वभाव ही संघर्ष है, उसकी प्रत्येक क्रिया की प्रेरणा दूसरे को निगल कर खुद जीने की हो तो हम उसे दूसरे के लिए जीना और प्रेम नहीं सिखा सकते। यदि प्रेम और सहयोग का कोई आधार होगा भी तो वह किसी प्रबलतर शत्रु के सम्मुख अपनी दुर्बलता और पराजय के भाव से उत्पन्न होगा। यह अस्थाई होगा। इससे मानव में सद्भाव, त्याग, सेवा, सहिष्णुता, अनुशासन आदि जिन गुणों की निर्मिति होगी वह एक नीति के तौर पर होगी। वे मनुष्य या समाज के जीवन का अंग नहीं बन पायेंगे। दूसरों के साथ बेईमानी करने के लिए चार ठगों के बीच ईमानदारी के समान ही वे गुण रहेंगे। आपस में ईमानदारी बनाये रखने के लिए इन ठगों को कोई न कोई शिकार सदैव अपने सम्मुख रखना होगा। यदि ठगने के लिए कोई न बचा तो फिर वे एक दूसरे को ही ठगने लगेंगे। आज पश्चिम के राष्ट्रों के सम्मुख यही संकट उपस्थित है। यदि वे अपने विरोधियों और शत्रुओं को अपने मस्तिष्क से निकाल दें तो स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। उनकी एकता का आधार टूट जायेगा। और यदि वे इसी विरोधात्मक आधार पर चलते हैं तो उनके मानव की एकता और शान्ति आदि के लुभावने नारे कभी साकार नहीं हो सकते। राष्ट्रीयता उनके लिए सचमुच गले में फँसी हुई हड्डी के समान हो गयी है। वे छोड़ भी नहीं सकते और बनाकर रखते हैं तो उसके जाल में अधिकाधिक फँसते हैं।

स्वार्थों का महल

दुनिया के देशों के राजनीतिज्ञ राष्ट्रीयता को समाप्त करने का आत्मघाती प्रयत्न नहीं कर सकते और इसलिए आज तो वे विश्व की एकता की आकांक्षा को केवल अपने-अपने राष्ट्र के स्वार्थों की पूर्ति तथा दूसरे के स्वार्थों के विनाश के लिए कैसे उपयोग किया जाये, इसी का विचार कर रहे हैं। फलतः संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी संस्था भी दो शिविरों में बँट गयी है। एक दूसरे से संघर्ष की तैयारी हो रही है। उसके लिए ही प्रजातन्त्र और साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा रहा है।

नवीन दर्शन चाहिए

यदि हम चाहते हैं कि विश्व संहार और विनाश से बचे तो हमें इस स्थिति को बदलना होगा। राष्ट्र को बदलने की आवश्यकता नहीं। वह बदला नहीं जा सकता। हमें तो जीवन का दर्शन बदलना होगा। सृष्टि के विकास की सही विवेचना करनी होगी। पश्चिम के खगोलशास्त्री कोपर्निकस के पूर्व टालेमी के ही सिद्धान्त को अकाट्य सत्य मानकर चलते थे। तब तक पृथ्वी के चारों ओर सूर्य घूमता था। बाद में सूर्य के चारों ओर पृथ्वी घूमने लगी। आज पश्चिम को ऐसे किसी क्रान्तिकारी दर्शन की आवश्यकता है। ईश्वर और शैतान के द्वैत के स्थान पर अद्वैत का ज्ञान कराना होगा। यह जगत् संघर्षात्मक नहीं, सृजनात्मक है। बीज वृक्ष के रूप में संघर्ष के लिए नहीं तो अपने स्वतः के साक्षात्कार के लिए प्रकट होता है। उसके जीवन का उद्देश्य किसी का विनाश नहीं, किसी के लिए अपने आपको समर्पित कर देना है। सम्पूर्ण सृष्टि एक-दूसरे को सहयोग देती हुई चल रही है। इसका आधार संघर्ष नहीं, सहयोग है। पञ्चमहाभूत इसलिए एकत्र नहीं आते कि उन्हें मिलकर किसी से संघर्ष करना है, अपितु इसलिए कि वह उनकी प्रकृति है, उसी के द्वारा सृष्टिकर्ता की इच्छा को पूर्ण कर सकते हैं। यदि हम विकासवादी हैं तो सृष्टि के सृजन का नियम हमें स्वीकार करना चाहिए, विसर्जन या संहार का नहीं। यदि सम्पूर्ण सृष्टि में सभी प्राणियों की चेतना में किसी एक शक्ति की प्रेरणा और इच्छा काम कर रही है तो वह निश्चित विधायक है, निर्माणात्मक है, एकात्मक और भावात्मक है, विनाशक और विभेदक नहीं। अभी प्रलयकाल नहीं। सर्जन की बेला में प्रलय का नियम

कैसे चल सकता है ?

संघर्ष-वृत्ति से मुक्त भारतीय कल्पना

भारत ने राष्ट्रीयता को भी सम्पूर्ण जगत् और जीवन की विवेचना के आधार पर इसी भावात्मक रूप में देखा है। हमारी राष्ट्रीयता दूसरों से संघर्ष और उनके साथ प्रतियोगिता पर जीवित नहीं रही। समय-समय पर ऐसे संघर्ष आये हैं किन्तु उनकी राष्ट्र-मानस पर कोई गहरी छाप नहीं। हाँ, राष्ट्र-जीवन की विकृति को समाप्त करने के लिए जो घर में संघर्ष करने पड़े उनका प्रभाव बहुत गहरा है। राम-रावण और महाभारत के युद्ध परायों से नहीं; अपनों के साथ ही हुए।। उन्हें हम भुलाये से भी नहीं भूल सकते।

राष्ट्र : भगवती प्रकृति की योजना

हमारी दृष्टि में राष्ट्रों का आविर्भाव किसी ऐतिहासिक संयोग के कारण नहीं, अपितु दैवी प्रकृति की मूल योजना के कारण है। कोट्यावधि मानव राष्ट्र के रूप में किसी कृत्रिम उपाय से एकत्र नहीं हो सकते। उनके जीवन की एकसूत्रता, मातृभूमि के प्रति समान प्रेम, समान शत्रु-मित्र भाव तथा उस सबसे बढ़कर जीवन की इतिकर्तव्यता के सम्बन्ध में समान भाव किसी बाह्य प्रचारतन्त्र के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जा सकते। राष्ट्र-जीवन में दिखने वाली समानताएँ किसी अन्तर्निहित चेतन तत्त्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। ये राष्ट्र के लक्षण हैं, कारण नहीं। पश्चिम के विद्वान् लक्षणों को कारण मानकर कृत्रिम रूप से राष्ट्र-जीवन की कल्पना करते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त बार्साई की सन्धि ने यूरोप में ऐसे कई राष्ट्र उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। किन्तु दूसरे विश्व-युद्ध ने बता दिया कि उनका प्रयत्न असफल रहा। हरिद्वार के एक कुम्भ मेले पर भारी भीड़ देखकर एक अमेरिकन यात्री ने स्व. मदनमोहन मालवीय (वे उस समय जीवित थे) से पूछा कि इस मेले के लिए प्रचार में कितना व्यय हुआ होगा और कौन-कौन से उपाय अपनाये गये। मालवीय जी ने पञ्चाङ्ग खोलकर जिस स्थान पर 'कुम्भ पर्व' का उल्लेख था, वह दिखाते हुए, कहा, "हमारा यही प्रचार है, और इस एक लाइन के छापने में क्या खर्च हुआ होगा इसका अन्दाजा आप स्वयं लगा लें।" अर्थात् कुम्भ पर्व जैसे अनेक पर्व और त्योहार राष्ट्र के अस्तित्व के परिणाम हैं, कारण नहीं।

विश्वात्मा और राष्ट्रात्मा

जीवात्मा के सामान राष्ट्रात्मा के स्थायित्व एवं उसके विश्वात्मा के साथ अभिन्न सम्बन्धों के आधार पर ही हम उनके विकास की वह धारा निश्चित कर सकेंगे जो विरोधात्मक न होकर विधायक होगी। सेना की एक टुकड़ी की उन्नति तथा उसके कर्तव्यों की सही पूर्ति सम्पूर्ण सेना द्वारा निर्धारित योजना में से अपने लिए निश्चित कार्य का योग्यतम सम्पादन ही है। आर्थिक दृष्टि से विभागीय और क्षेत्रीय तज्ञता (Specialisation) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले पश्चिम के दार्शनिक यह क्यों भूल जाते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र सर्वसत्ता की ओर से एक विशेष मिशन लेकर पैदा हुआ है। उसका यह मिशन दूसरों के लिए विनाशक नहीं, सृष्टि के परिपालन में सहायक ही हो सकता है। इस कार्य की पूर्ति में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को लगा देना ही उस राष्ट्र के विकास का सर्वोत्तम और एकमेव साधन है।राष्ट्रों की इस विशेषता को मिटाकर सबको एक मानवता के नाम पर ही साँचे में ढालने का प्रयत्न करना जीवन के नियमों के अज्ञान का ही द्योतक है।

संघर्ष, विकृति का परिणाम

अपने-अपने निश्चित कार्य के लिए उत्पन्न राष्ट्र यदि कभी टकरा जाते हैं तो वह उनके विकार का द्योतक है, अपने जीवनोद्देश्य की विस्मृति का परिणाम है तथा मानव के लम्बे और विविध इतिहास में अपवादस्वरूप ही है। रोज हजारों मील दौड़ने वाली रेलगाड़ियों में कभी-कभी होने वाली टक्कर, चिन्ता का विषय हो सकती है, किन्तु उससे हम उनके दिनप्रतिदिन के विधायक कृत्य को आँखों से ओझल नहीं कर सकते। न हम यह मानकर चल सकते हैं कि दौड़ने वाली रेलगाड़ियों का उद्देश्य ही एक दूसरे से टकराना या संघर्ष करना है। टक्कर को रोकने का मार्ग प्रत्येक रेलगाड़ी के संचालक को अपने उद्देश्य एवं संचारण के नियमों के सम्बन्ध में अधिक सावधान तथा सतर्क करना ही है। सभी राष्ट्रों का सह-अस्तित्व सम्भव ही नहीं, अपरिहार्य है। किन्तु यह सह-अस्तित्व दो पहलवानों का, जब तक जूझते नहीं तब तक खम ठोकते रहने का, सह-अस्तित्व नहीं हो सकता। सी-सॉ (See Saw) पर बैठे हुए दोनों बच्चों के सह-अस्तित्व से भी इनकी तुलना नही की जा सकती। यह तो इन्द्र धनुष के

सातों रंगों जैसा सह-अस्तित्व है, जिसमें प्रत्येक अपने व्यक्तित्व को बनाये रखते हुए भी सम्पूर्ण के सौन्दर्य में अपना योगदान देता है। चित्र की प्रत्येक रेखा का अपना महत्त्व है। उसके कारण चित्र है और चित्र के कारण प्रत्येक रेखा की सार्थकता है। जो वक्र रेखा मनुष्य के चित्र में कान की आकृति का आभास देती है वही अन्यत्र कोई दूसरा रूप धारण कर सकती है अथवा अर्थहीन सिद्ध हो सकती है। हम न तो उसकी वक्रता को मिटा सकते हैं और न उसे सम्पूर्ण चित्र से अलग करके रख सकते हैं। दोनों में ही उसका विनाश है। राष्ट्र भी जब अपनी विशेषता और पूरकता का ज्ञान कर सह-अस्तित्व का विचार करेंगे, तभी एक सुन्दर संसार का सृजन कर सकेंगे।

यह तभी सम्भव है जब हम संघर्ष के स्थान पर सहयोग को जीवन का सत्य दर्शन मानकर चलें। भारत अपने राष्ट्र-जीवन को इसी आधार पर व्यतीत करता आ रहा है। पश्चिम से सम्पर्क आने पर अंग्रेजों का विरोध करने के लिए यहाँ भी पश्चिमी राष्ट्रीयता के आधार पर विरोधात्मक राष्ट्र-निर्माण के प्रयत्न आरम्भ हुए। किन्तु उनको सफलता नहीं मिली। इस प्रकार राष्ट्र-जागरण जल बुद्बुदवत् ही सिद्ध हुआ है। हाँ, उसने राष्ट्र-मानस में कुछ विकृतियाँ अवश्य उत्पन्न कर दी हैं,जिनका हमें शोधन करना होगा। आज दीखने वाली प्रान्तीयता, जातिवाद, गुटबन्दी आदि की भावनाएँ उसी जीवन-दर्शन का परिणाम हैं। उन्हें मिटाने के लिए कभी-कभी एकरूपता थोपने के प्रकृति-विरुद्ध प्रयत्न किये जाते हैं। जीवन की दिशा का ज्ञान होने पर प्राणशक्ति का संचार होते ही ये विघटनात्मक प्रवृत्तियाँ स्वतः समाप्त हो जायेंगी। आइये हम अपने एकात्मक एवं विधायक राष्ट्र निर्माण के इस प्रयत्न में जुट जायें; धारणात्मक होने के कारण यही हमारा और विश्व का धर्म है। इसी से हम कल्याण की ओर अग्रसर हो सकेंगे।

☆

धर्मराज्य क्या और क्यों ?

भूमि, जन और संस्कृति के संघात से राष्ट्र का निर्माण होता है। जन और संस्कृति के कारण ही जड़भूमि चैतन्यमयी बन जाती है। भूमि और संस्कृति से ही मरणशील जन अमरता प्राप्त करता है, नित्य बदलते हुए भी स्थिर हो जाता है। उसके जीवन की दिशा और परिभाषा, व्यवहार की मर्यादाएँ और नियम इन दोनों के ही अधिष्ठान पर बनते हैं। संस्कृति तो जन और भूमि के पारस्परिक सम्बन्धों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं का ही परिणाम है। कुछ शास्त्रवेत्ताओं के अनुसार जन एक अमैथुनिक सृष्टि के रूप में ईश्वर की ओर से ही कुछ विशेषता लेकर पैदा होता है, तथा उस मूल तत्त्व का विकसित स्वरूप ही संस्कृति है। अन्यों के अनुसार मानव-मानव के बीच के प्रवृत्त व्यवहार को जब एक निश्चित आदर्शोन्मुख दिशा प्राप्त होती है, तो उन व्यवहारों का मन पर संस्कार, जो स्वयं व्यवहारों का नियन्त्रक भी होता है, संस्कृति कहलाती है। संस्कृति जन के कर्तव्यों का कारण एवं परिणाम दोनों ही है। भूमि के साथ जन का जो मनत्व तथा साधक-साध्य, पोषक-पोष्य, रक्षक-रक्षित, दौहक-दुध्य का नाता है, उसी से संस्कृति का साज-शृंगार होता है। तात्पर्य यह है कि भूमि, जन और संस्कृति तीनों ही अन्योन्याश्रित हैं। तत्ववेत्ता किसी एक या एकाधिक को विशेष महत्त्व भले ही दें किन्तु जीव, आत्मा और देह तीनों ही सत्य हैं। वैसे ही भूमि, जन और संस्कृति तीनों में से किसी एक को भी हम कम मानकर नहीं चल सकते। राष्ट्र का अस्तित्व इनके बिना नहीं रहेगा।

इन तीनों तत्वों के संघात से उत्पन्न राष्ट्र की रक्षा, अभिवृद्धि एवं समृद्धि जिन व्यवहारों से हो, उनका अधिष्ठान धर्म है। धर्म से ही धारणा होती है, उससे ही अभ्युदय और निःश्रेयस् की उपलब्धि होती है, व्यष्टि और समष्टि के हितों का सामंजस्य धर्म से ही होता है। जैसे धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति देह को स्वस्थ और सक्षम बनाते हुए आत्मा का साक्षात्कार कर जीव को

भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार का आनन्द प्राप्त करता है वैसे ही धर्मानुयायी राष्ट्र, भूमि, जन और संस्कृति तीनों के लिए कल्याणकारी होता है। धर्म की यह कल्पना होने के कारण ही भूमि-पूजन, तीर्थयात्रा, मातृ-वन्दना, समाज-व्यवस्था, यज्ञ-यागादि सभी का हमारे धर्म में अन्तर्भाव है। यह धर्म व्यक्ति-व्यक्ति के व्यक्ति और समष्टि के, एक समष्टि और दूसरी समष्टि के, जड़ और चेतन के सभी व्यवहारों का नियन्त्रक होकर उनके सम्बन्धों को परस्परानुकूल बनाता है। धर्म ही हमारे सम्पूर्ण जीवन को व्याप्त किये हुए है।

धर्म का यह स्थान होने के कारण हमारी सभी संस्थाएँ धर्माधिष्ठित रहीं। राज्य, जिसका उदभव मूलतः राष्ट्र के रक्षण के लिए हुआ, धर्म की अवहेलना करके नहीं चल सकता। भोजन पकाने के लिए नियुक्त रसोइया ईंधन और उसकी दाहकता से विमुख होकर अपना दायित्व नहीं निभा सकता है। धारणा करने वाले धर्म की ओर उदासीन होकर राज्य यदि चला तो वह राष्ट्र की रक्षा नहीं कर पायेगा। अतः हमारे यहाँ राज्य का स्वरूप धर्मराज्य का रखा है। उसके अन्य भेद गौण हैं। यदि राज्य धर्माधिष्ठित रहा तो वह लोकतन्त्रीय हो अथवा एकतन्त्रीय, दोनों ही अवस्थाओं में कल्याणकर सिद्ध होगा। इसके विपरीत लोकतन्त्र और एकतन्त्र दोनों के द्वारा प्रजा के उत्पीड़न के उदाहरण इतिहास में उपलब्ध हैं।

धर्मराज्य में भूमि की एकता, अखण्डता और उसके प्रति श्रद्धा प्रमुख रूप में विद्यमान् रहेगी। धर्मराज्य कभी संकुचित होकर नहीं चल सकता। अति तुच्छ वस्तुओं को पूज्य बना देने का धर्म का गुण है। भूमि की ओर अत्यन्त श्रद्धा और आदर से देखना इसी गुण की करामात है। निःस्वार्थ देशभक्ति धर्मातीत नहीं हो सकती। लोकाराधन धर्मराज्य का एकमेव उद्देश्य रहता है। एक भी जन के भूखे रहते हुए धर्मानुयायी शासक को भोजन करने का अधिकार नहीं। लोकरंजन के कारण ही 'राजा' की संज्ञा शासक को प्राप्त हुई है। धर्मनीति मूलतः लोकनीति होगी। धर्मभाव जन को विभक्त न देखकर उनका सम्पूर्णता के साथ विचार करता है। देह और अवयव के समान ही लोक एवं लोक-संस्थाओं तथा विभिन्न आधार पर बने हुए उनके विविध वर्गों का सम्बन्ध रहता है। न तो अंग की ही अवहेलना की जा सकती है और न देह की। फूल का अस्तित्व पंखुड़ियों से है तथा पंखुड़ियों की शोभा और जीवन की

सार्थकता पुष्प के साथ उसके स्वरूप को बनाने और निखारने में है। पृथकतावाद के लिए यहाँ गुंजाइश नहीं। सांस्कृतिक दृष्टि से भी धर्म एकात्मवादी है। जीवन की एकात्मता की अनुभूति ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है तथा इस भाव से अनुस्यूत आचारसंहिता ही धर्म है। निश्चित ही इस आचार-संहिता का लक्ष्य समष्टि का संरक्षण तथा व्यक्ति का विकास होगा। व्यक्ति और समाज में एक को ही लक्ष्य बनाकर चलना एकांगी है। भारतीय संस्कृति दोनों के हितों को समान रूप से साधती है। प्रजातन्त्र और समाजवाद इस युक्ति को नहीं बैठा पाये। धर्म से यह सहज सम्भव है।

धर्मराज्य का स्वरूप "पन्थराज्य" से बिल्कुल भिन्न है। धर्म और पन्थ एक नहीं। अंग्रेजी के 'रिलीजन' शब्द से धर्म का अनुवाद करने के कारण यह भ्रम हुआ है। "धर्म" व्यापक है। उपासना, सम्प्रदाय जीवन के एक अंग का ही विचार करते हैं। चार पुरुषार्थों में से एक का व्यक्तिगत आधार पर पन्थ में विचार होता है। धर्म चारों पुरुषार्थों में से एक होता हुआ भी सबका अधिष्ठान है। अतः धर्म-राज्य थियोक्रेटिक स्टेट नहीं होगा। जब राजा ही धर्मगुरु हो जाता है तब थियोक्रेसी का जन्म होता है। भारत ने राजा को यह स्थान कभी नहीं दिया। राज्य में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित हो जाने पर वास्तव में थियोक्रेसी उत्पन्न होती है। शासक का मत ईश्वरवादी अथवा किसी पन्थ विशेष से सम्बद्ध रहा तो वह उसके आधार पर सम्पूर्ण समाज के जीवन का नियन्त्रण करता है। यूरोप में गैर-ईसाइयों तथा ईसाइयों में भी बाइबिल के मान्य सिद्धान्तों के विरोध में बोलने वालों के विरुद्ध राज्य की शक्ति रही। गैलीलियो को इसीलिए जेल में डाला गया। खिलाफत और पोपडम इसी दृष्टिकोण की उपज हैं। आज भी रूस और चीन में जो चल रहा है वह थियोक्रेसी से भिन्न नहीं। साम्यवादियों का मजहब ईश्वरवादी नहीं किन्तु मतवाद के सभी लक्षण वहाँ मौजूद हैं। समाजवाद का उद्देश्य लेकर चलने वाले सभी लोग यदि सफल हो गये तो इसी प्रकार का पन्थिकराज्य स्थापित करेंगे। समाजवाद ही उनका पन्थ है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, तथा बौद्धिक (आत्मिक को यहाँ स्थान नहीं) सभी शक्तियाँ राज्य के अधीन रहेंगी।

धर्मराज्य शक्तियों के विकेन्द्रीकरण अथवा सुनियोजीकरण में विश्वास रखता है। "राजा करे सो न्याय" का सिद्धान्त यहाँ मान्य नहीं, अपितु राजा

को न्याय करना चाहिए। "न्याय" क्या है इसका निर्णय राज्य नहीं अपितु धर्म करेगा। आज की परिभाषा में इसे संवैधानिक शासन Constitutional Government कह सकते हैं। किन्तु अन्तर इतना ही है कि आज का संविधान साधारण मनुष्यों के द्वारा बनाया हुआ तथा उनके हाथ का खिलौना बन गया है। अतः वे उसे मनमाने ढंग से बदलते रहते हैं। फलतः आज संविधान के अनुसार शासन होने के स्थान पर शासन के अनुसार संविधान, यही स्थिति हो गयी है। धर्म के सिद्धान्त द्वन्द्वातीत महापुरुषों द्वारा सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का अर्न्तदृष्टि से साक्षात्कार करने के उपरान्त निश्चित होते हैं। यहाँ लिखित नियम से अधिक अलिखित नियम का प्राधान्य रहता है। समाज अपने व्यवहार से अपनी आत्मा को अभिव्यक्त करता रहता है। नियम तथा स्मृतियाँ समाज के इन अन्तराल का प्रक्षेपण मात्र होनी चाहिए। समाज स्वयं धर्मसम्मत शिष्टानुमोदित आचार का अनुगामी होने के कारण व्यवहार में कभी स्वैरभाव या स्वच्छन्दता नहीं दिखाता। इस प्रकार धर्मराज्य मोबोक्रेसी और ऑटोक्रेसो दोनों ही बुराईयों से बच जाता है।

धर्मराज्य किसी किताब पर आधारित नहीं।वह स्थिर न होकर गतिमान् है किन्तु उसकी गतिशीलता, अस्थिरता अथवा परागतिता का दूसरा नाम नहीं। देश और काल के अनुसार वह बदलता है फिर भी जीवन के निश्चित सिद्धान्तों के विषय में वह अपरिवर्तनशील है। यहाँ समाज की विधायिनी शक्ति राजा के पास नहीं, अपितु धर्म के पास है। व्यवहार में विधायिका शासक वर्ग से भिन्न होनी चाहिए। धर्मराज्य को साधारणतः "रूल ऑफ लॉ" कहा गया है। किन्तु जहाँ विधिनिर्माण का अधिकार शासक (Ruler) के हाथ में ही हो, वहाँ उसका व्यावहारिक अर्थ इतना ही रह जायेगा कि Rule of law to be framed by the ruler. शासन को यह अधिकार धर्मराज्य के अन्तर्गत प्राप्त नहीं होगा।

धर्मराज्य आज के प्रजातन्त्र से भिन्न है। प्रजारंजन राजा का कर्तव्य होने के उपरान्त भी वह मूलतः धर्म से नियन्त्रित है। प्रजा का भी नियन्त्रण धर्म से होता है। जैसे धर्मानुयायी प्रजाजन को दण्ड देने अथवा हटाने का अधिकार राजा को नहीं; वैसे ही धर्मपालक राजा को हटाने का अधिकार प्रजा को नहीं। प्रजातन्त्र राजा और प्रजा के हितों में स्थायी विरोध मानकर राजा को

बराबर प्रजा के नियन्त्रण में रखने के लिए विरोधी दल के रूप में एक निरन्तर चलने वाले विद्रोह की तलवार राजा के सिर पर लटका कर रखता है। प्रजातन्त्र का यह स्वरूप मानव विकास के उपयुक्त नहीं तथा सम्भवतः ईश्वर और शैतान की द्वैतवादी ईसाई विचारधारा में से उत्पन्न हुआ है। प्रजा राजा को हटा सकती है यदि वह धर्म के विरुद्ध काम करे। राजा को हटाना प्रजा का धर्म नहीं अपितु धर्म का पालन करना प्रजा का धर्म है। जब राजा धर्म पालन के मार्ग में बाधक बन जाये तो उसे हटाना धर्म हो जाता है।

धर्म का महत्त्व अनेक स्वीकार करते हैं। किन्तु वे धर्म-राज्य की घोषणा की आवश्यकता नहीं समझते। वे लोग यदि अन्तर्मुख होकर सोचेंगे तो उनके इस निर्णय के पीछे धर्म के सम्बन्ध में भ्रममूलक कल्पनाएँ तथा पिछली अर्द्ध शताब्दी की राजनीति ही है। यदि हम इस दिशा को बदलना चाहते हैं तो हमें अपने राज्य के स्वरूप की स्पष्ट शब्दों में घोषणा करनी होगी। सेक्युलर स्टेट, वेलफेयर स्टेट, सोशलिस्ट स्टेट आदि अनेक नारे लगाये गये हैं किन्तु वे मूलतः भारतीय परम्परा तथा प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण न तो जनता में कुछ निर्माण कर पाये हैं और न समाज में व्यवस्था ही। धर्म राज्य निश्चित ही यह जादू कर सकता है। हमारी सुप्त आकांक्षाओं को जगाने की सामर्थ्य उसमें है। हो सकता है कि "धर्म राज्य" की कल्पना के सम्बन्ध में आज मतैक्य न हो। "धर्म" एक सत्य होने के उपरान्त भी उसके स्वरूप-दर्शन में सदैव मतभिन्नता रही है। इसी प्रकार "धर्मराज्य" के सम्बन्ध में भी हो सकती है। किन्तु इस दृष्टि से समाजवाद आदि की भी गति कोई अच्छी नहीं। उनके सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि जितने समाजवादी हैं उतने ही समाजवाद के प्रकार हैं। किन्तु यह सब कल्पनाएँ मूलतः विदेशी हैं, इसलिए उनको स्वीकार करने पर हमारी दृष्टि बाहर की ओर हो जाती है। "धर्म-राज्य" प्रमुखतः भारतीय कल्पना होने के कारण, मतभेद रहे तो भी, हम अन्तर्मुख होकर ही सोचेंगे। राष्ट्रस्थ होकर सोचने और व्यवहार करने वालों से देश को कभी नुकसान नहीं होगा। "वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः" के अनुसार हमें भी धर्मबोध हो सकेगा।

☆

धर्म धारण से है

वास्तव में समाज धर्म के आधार पर काम करता है। इस प्रकार काम करने से स्वाभाविक रूप से जो कुछ प्राप्त होता है, वह उन्नति है। वह परम वैभव होता है। इन दोनों का सम्मिलन आवश्यक है। जैसे शरीर और आत्मा का मेल होने के बाद जब शरीर आत्मा के अनुसार, आत्मा की भावना को ध्यान में रखकर काम करता है, तो यह काम ही उसकी उन्नति होती है। फिर अड़चन नहीं रहती। अड़चन तो तभी होती है जब आत्मा और शरीर के अन्दर किसी प्रकार का अन्तर आकर खड़ा हो जाये। आत्मा और शरीर का जैसे मेल रहता है और मेल रहने के बाद जो काम होता है, वह ठीक होता है- उसमें कभी कोई अड़चन नहीं आती। स्वाभाविक रूप से उन्नति क्या है, उसे देखना हो तो इससे पता लग जायेगा। वास्तविकता यह है कि अगर इन क्षेत्रों का मेल नहीं, आत्मा के प्रतिकूल अगर शरीर काम करने लगे, आत्मा की अवहेलना करते हुए शरीर काम करने लगे, तो फिर वे सब क्रियाएँ उन्नति की ओर ले जाने वाली क्रियाएँ नहीं होंगी। वे अवनति की ओर ले जाने वाली क्रियाएँ होंगी। इन सबका मेल बैठाकर यदि काम किया जायेगा तो वह काम ठीक होगा। उसी प्रकार समाज और धर्म का सम्बन्ध है। समाज का आधार धर्म है।

मैंने धर्म का बार-बार प्रयोग किया है। मैं समझता हूँ कि इससे धर्म क्या है, इसकी थोड़ी बहुत कल्पना आपको हो जानी चाहिए। यह शब्द ही ऐसा है कि इसका प्रयोग बहुत होता है। इतना प्रयोग होता है कि आज धर्म शब्द के कई जगह अर्थ के अनर्थ भी हो गये हैं। बहुत बार तो धर्म के अन्तर्गत जो चीजें नहीं आती हैं, वह भी धर्म के नाम पर लागू कर दी गयी हैं। इतना भी हो गया है कि धर्म एक व्यापक शब्द होने के बाद भी जो छोटी-छोटी चीजें हैं, उसके जो छोटे-छोटे अंग हैं, उन्हीं को लोग धर्म समझने लगे हैं। इस प्रकार हमको नहीं समझना चाहिए; क्योंकि कई बार लोग धर्म का इतना ही अर्थ लगाते हैं कि धर्म

यानी मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर। ऐसे ही उनका अलग धर्म है। जो मन्दिर में जाता है वह बड़ा धर्मात्मा है। मन्दिर में जाना ठीक है। यह धर्म का एक अंग है। परन्तु मन्दिर जाना ही धर्म नहीं है। धर्म वास्तव में क्या है ? उसको भी हमें थोड़ा समझने की जरूरत है। इसलिए समझने की जरूरत है कि धर्म के नाम पर ऐसी बहुत सी चीजें चल गयी हैं, जो वास्तव में धर्म नहीं है। कभी-कभी बहुत से लोग आकर आपके सामने खड़े हो जाते हैं, और कहते हैं कि यही धर्म है। बाहर के लोग आये। अंग्रेजी का जो शब्द 'रिलीजन' है, उस शब्द ने बहुत बड़ी गलती कर दी। क्योंकि अंग्रेज जब यहाँ पर आये और यहाँ पर उन्होंने धर्म शब्द सुना, तो वे धर्म का अनुवाद करने लगे। बेचारों के सामने यह कठिनाई आ गयी कि धर्म का अनुवाद क्या करें ? फिर धर्म जैसा व्यापक शब्द, धर्म जैसी कोई कल्पना अंग्रेजों के यहाँ पर है ही नहीं। जब उनकी समझ में नहीं आया तो उन्होंने 'रिलीजन' शब्द से धर्म का अनुवाद कर दिया। यह अनुवाद की गलती है। अनुवाद के कारण ऐसी बहुत सी गलती हो जाती है। नानी हो या दादी हो, कहेंगे 'ग्राण्ड मदर' ही। अपने यहाँ तो नानी और दादी इनमें जमीन-आसमान का अन्तर है। परन्तु वहाँ पर नानी-दादी यह दोनों के लिए एक ही शब्द है। वहाँ पर आप की चाहे भाभी हो या साली हो, चाहे सलहज हो, सबके लिए सिस्टर-इल-लॉ एक शब्द का प्रयोग है। ऐसे अंग्रेजी में अनेक शब्द हैं। उनके कारण गड़बड़ी हो जाती है। इसलिये अंग्रेज लोग जब यहाँ पर आये तो उन्होंने 'धर्म' शब्द का अनुवाद 'रिलीजन' कर दिया। 'रिलीजन' यानी पन्थ, सम्प्रदाय। पूजा करने की पद्धति यानी सम्प्रदाय। जब उन्होंने अनुवाद कर दिया तो हम भी उसका प्रयोग करने लगे और कहने लगे कि यही धर्म है। परन्तु हमको धर्म शब्द का यथार्थ रूप समझना चाहिए। हम लोग हिन्दू धर्म की रक्षा करने की बात करते हैं तो वह कोई 'रिलीजन' नहीं है। पर बहुत बार तो हिन्दू धर्म का अनुवाद भी लोग 'हिन्दू रिलीजन' कर देते हैं, पर 'रिलीजन' जैसी अपने यहाँ पर कुछ भी नहीं। यहाँ वैष्णव 'रिलीजन' है, यहाँ पर सिख 'रिलीजन' है, यहाँ पर जैन 'रिलीजन' है, यहाँ पर शैव 'रिलीजन' है, यहाँ पर लिंगायत 'रिलीजन' है। वास्तव में हिन्दू धर्म में अनेक 'रिलीजन' हैं, अनेक मत है, अनेक सम्प्रदाय हैं। प्रार्थना की अनेक पद्धतियाँ हैं और इन सबको मिलाकर हिन्दू धर्म है। इस प्रकार इन सबको मिलाने के बाद भी जिसे धर्म कहते हैं वह एक ही है। यानी शैव, वैष्णव, सिख, लिंगायत और जैन उनका धर्म वास्तव में

अलग नहीं है। मत अलग है, पन्थ अलग है। 'धर्म' एक है धर्म वही है जो सबके लिए लाभकर हो, मोक्ष का मार्ग उसके द्वारा प्रशस्त होता है। धर्म की जो साधारण व्याख्या की गयी है, वह व्याख्या है "धारणात् धर्ममाहुः।"

धारणा से धर्म है। यानी जिस चीज के कारण, जिस शक्ति के कारण, जिस भाव के कारण, जिन नियमों के कारण, जिस व्यवस्था के कारण कोई चीज टिके, वह धर्म है। इसलिए सम्पूर्ण प्रजा, जनसमाज, और उससे भी अगर आगे बढ़ना हो तो सृष्टि: इसकी धारणा धर्म के द्वारा होती है। जिससे यह टिके वह है धर्म। धर्म हट जाये तो वह चीज टिकेगी नहीं, खत्म हो जावेगी। इसलिए अपने यहाँ धर्म का प्रतीक बैल बताया, और धर्म के चार चरण बताये। बैल अपने चार पैरों के सहारे पर टिकता है। उसकी स्थिरता इन चार पैरों के सहारे पर है। कल्पना कीजिये कि किसी बैल का एक पैर टूट जाये तो वह कैसे चलेगा ? उसको खड़े रहने में कठिनाई, उसको चलने में कठिनाई; और दो टूट जायें तो और भी कठिनाई और तीन टूट जायें, तो बिल्कुल गिर पड़ेगा। जैसे बैल ठीक प्रकार से खड़ा रहे, ठीक प्रकार से चल सके, इसके लिए उसको चार पैर आवश्यक हैं वैसे ही धर्म के भी चार पैर आवश्यक हैं। यानी इसके पीछे की मूल धारणा यह है कि वह टिक सके। धर्म का अर्थ है धारणा। शरीर की धारणा के लिए भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अलग धर्म है। सब एक काल पर लागू नहीं होता। हमारे एक मित्र एक बार गरमी के दिनों में लखनऊ गये। वहाँ लखनऊ के पुराने नवाब रहते हैं। वे अपना मलमल का कुर्ता पहनकर, टोपी लगाकर शाम के समय इत्र वगैरह लगाकर आराम से घूमते हैं। उन्होंने इनसे कहा, 'तुम तो बिल्कुल गाँव के आदमी लगते हो।' यह सुनकर इन्होंने भी कुर्ता सिलवाया और इसी तरह घूमते रहे। अब दो-तीन महीने रहते-रहते जाड़ा आ गया और वे गाँव लौट गये, गाँव में वापस आये, सोचा कि गाँव के जो लोग हैं, उन्हें कुछ पता नहीं इसलिए वे पाँच बजे अपना कुर्ता निकालकर इत्र वगैरह लगाकर टहलने के लिए गये। गाँव का बूढ़ा शाल ओढ़कर लेटा था। उसने पूछा 'बेटा, कहाँ जा रहे हो ?' उसने कहा, 'घूमने जा रहे हैं।' बूढ़े ने कहा, 'ऐसे जा रहे हो तो बीमार पड़ जाओगे।' उसने कहा, 'वाह, बीमार कैसे हो जायेंगे।' आखिर में उसे निमोनियाँ हो गया और शाल ओढ़ाकर लिटा दिया गया। सारी मुसीबत गाँव वालों को सहनी पड़ी। उसका यह हाल हो गया, क्योंकि उसने काल का विचार नहीं किया।

कैसे समय कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका विचार करना पड़ता है। धर्म यानी शरीर की धारणा और शरीर की धारणा के नियम हैं, जो बदलते चले जायेंगे। समय के अनुसार बदलेंगे, स्थिति के अनुसार बदलेंगे। मन में अनेक चीजें हैं उनके अनुसार बदलेंगे। ये ऋतु के अनुसार बदलती चली जाती हैं। इनमें कोई स्थायित्व नहीं है। परन्तु शरीर के साथ-साथ बुद्धि है, मन है, इन सबकी धारणा होनी चाहिए और उन सबका मेल बिठाया जाना चाहिए। वास्तव में धर्म का काम क्या है ? धारणा करना और धारणा करके यह जो शरीर, मन, बुद्धि है, इन सबके बीच में एक मेल बैठाना। सामंजस्य दोनों प्रकार से बैठाया जाता है। कुछ सामंजस्य बिठाने के लिए नियम बनाये जाते हैं, और कुछ सामंजस्य ऐसा बिठाया जाता है कि कितने भी नियम बना दीजिये, पर कुछ परिणाम नहीं होता। कितने भी नियम बनायें तो भी सब नियम जीवन की सभी चीजों को लेकर नहीं चल सकते। अनेक ऐसी स्थितियाँ आती हैं कि जब आपको नियम नहीं मिलेंगे। इसीलिए अपने यहाँ स्मृति, शास्त्र, श्रुति सब कुछ है। पर अगर ऐसी स्थिति आ जावे तो क्या करेंगे ? तो आप अपने मन से पूछें। मन आपको गवाही देगा, मन आपको बतायेगा, कहा भी है- 'मनः पूतम् समाचरेत्।' आप उसके अनुसार व्यवहार करिये, पर यह हर एक का मन नहीं कर सकता। जो मन इस प्रकार बन जाये कि ठीक-ठीक निर्णय ले सके, वही इसे कर सकता है।

शरीर के अन्दर मन, बुद्धि और इन्द्रियों का हिसाब भी बना दिया गया है। यदि प्रकृति के साथ इनका सामंजस्य बैठाने की कोशिश नहीं की गयी तो भी अड़चन आ जावेगी। प्रकृति का विचार करना ही पड़ता है, यह मैंने पहिले बताया है। देश काल का जैसे विचार करते हैं उसी प्रकार समस्त प्रकृति के साथ सामंजस्य होना चाहिए। प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार मन का, बुद्धि का, शरीर का, सबका सामंजस्य बैठ सके, इसका विचार करना चाहिए। वैसे ही एक व्यक्ति और अनेक व्यक्ति का भी विचार होना चाहिए। व्यक्ति अकेला भी है और अनेक भी हैं। उसका दूसरों के साथ सम्बन्ध आता है।भाई-भाई के बीच सामंजस्य बैठाने वाला भी कोई चाहिए। कोई इच्छा चाहिए, कोई मन की प्रकृति चाहिए। वास्तव में यह सामंजस्य बैठाने का काम भी धर्म ही करता है, जिसके कारण भाई-भाई के बीच झगड़ा नहीं होता, एक भाई दूसरे भाई से प्रेम करना सीखता है। ऐसे ही पति और पत्नी के बीच में जिससे सामंजस्य बैठेगा,

पिता और पुत्र के बीच में जिससे सामंजस्य बैठेगा, वहाँ पर उनके बीच में जिस-जिस के कारण तालमेल होगा, मिलकर काम कर सकेंगे, उनके बीच का संघर्ष मिटेगा, उनके बीच का विरोध कम होगा और एक दूसरे को चाहते हुए ठीक से काम कर सकेंगे, वह सब चीज वास्तव में धर्म है। इसलिये पिता और पुत्र के बीच में पिता का धर्म यह है कि पुत्र का पालन-पोषण करे, पुत्र का धर्म है पिता की योग्य सेवा करे, पिता की आज्ञा माने। यदि दोनों ठीक प्रकार से अपने-अपने धर्म का पालन करें तो पिता और पुत्र के बीच का संघर्ष मिट जायेगा। यानी विरोध हटकर दोनों एक-दूसरे से मिलकर एक दूसरे को सुखी बनाते हुए चलते जायेंगे। पति और पत्नी के बीच में जिससे सामंजस्य आवे वह भी वास्तव में एक धर्म है। अब व्यक्ति और राष्ट्र के बीच में जिससे मेल बैठ सके वह राष्ट्र और व्यक्ति के बीच का धर्म है।

अपने राष्ट्र के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव समाज है। इस मानव समाज के साथ भी सामंजस्य होना चाहिए। परन्तु सारा समाज तो नष्ट हो जावे, सारे मानव समाज का नुकसान हो जावे और हमारा राष्ट्र बहुत ऊँचा हो जावे, यह भावना भी हमें अपेक्षित नहीं। जहाँ पर इस प्रकार का केवल अपना-अपना विचार किया गया, अपने राष्ट्रगत स्वार्थ का विचार हुआ, मानव समाज का विचार नहीं हुआ तो (जैसा पश्चिम में आजकल चल रहा है) वहाँ पर राष्ट्र और मानव समाज के बीच में एक खाई बराबर बनी रही। हमें तो संसार के प्रत्येक प्राणी का विचार करना है। यहाँ तक कि मूक पशु-पक्षियों का भी हमें ध्यान रखना होगा। उनके हमारे बीच में कोई सामंजस्य हो सकता है क्या ? दोनों के बीच का संघर्ष मिटाया जा सकता है क्या ? इसका भी तो विचार करना पड़ेगा। गाय है, बैल है, पशु-पक्षी हैं; न जाने कितने कीटाणु एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। इन सबके बीच में एक संघर्ष की भूमिका समाप्त करके कोई एक सामंजस्य की भूमिका पैदा करने से ही सृष्टि चलेगी। फिर पशु-पक्षी तथा अपना जो चल जगत् दिखलाई देता है, इतना ही नहीं, यहाँ पर प्रकृति है, पेड़ हैं, पौधे हैं, इनके बीच में भी कोई सामंजस्य करना होगा। आखिर इन्हीं के द्वारा हमें भोजन मिलता है। अगर आम हमें लेना है तो आम, आम का पेड़ और आम के पेड़ का स्वामी, इनके बीच में सामंजस्य लाना ही होगा।

प्रकृति के साथ भी किसी न किसी प्रकार का सामंजस्य बैठाकर रखना

आवश्यक है। उसमें जो उल्लास है वह हमारे जीवन में भी पैदा हो, इस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए। वास्तव में एक व्यक्ति के अन्दर उसके शरीर-धारण से लेकर सम्पूर्ण सृष्टि तक जितने भी भिन्न-भिन्न नाते-रिश्ते आते हैं, उनके बीच में सामंजस्य बैठाने का काम है; यह काम धर्म का है। हमारे यहाँ धर्म की जो व्याख्या की गयी उसमें १० लक्षण बताये गये हैं- क्षमा, अस्तेय (चोरी नहीं करना),शौच, इन्द्रिय-निग्रह, सत्य, बुद्धि, विद्या आदि ये धर्म के लक्षण हैं. इनके द्वारा हमारा धर्म चलता है। अब इनके आधार के ऊपर फिर बाकी समय-समय के नियम, व्यवस्था बनती जाती है। वह समय और स्थान के अनुसार बनती है।